अरे! मृत्यु के महाखौफ में
मरते-मरते जीवन बीता
अरे! कोई क्षण इस जीवन का
इस सदमे से नहीं था रीता
एक समय की इस मृत्यु ने
लील लिया जीवन का छिन-छिन
मुक्त हुआ मैं छोड़ चला जग
है आज मौत का अंतिम दिन

क्या मृत्यु अभिशाप है?

- परमात्मप्रकाश भारिल्ल

लेखक की अन्य कृति अन्तर्द्वन्द में व्यक्त कुछ महत्त्वपूर्ण विचार

१. जीवन तो जीना ही था, यदि विचारपूर्वक जिया होता तो यही जीवन, जीवन-मरण का अन्त करनेवाला साबित होता। **– अंतर्द्वन्द, पृष्ठ-२१**

२. अपने विचारों के अनुरूप अपने जीवन को ढालना कोई एक दिन का काम नहीं है, वरन् यह एक सतत प्रक्रिया है। **– अंतर्द्वन्द, पृष्ठ-६**

३. जब विचार ही आकार नहीं ले पाएंगे तो जीवन कैसे आकार लेगा ? **– अंतर्द्वन्द, पृष्ठ-३०**

४. हमारी आज की जीवन शैली में इहभव की सर्वोपरि प्राथमिकता है व आगामी भव अत्यन्त उपेक्षित है; यदि आत्मा की अनादि-अनंतता का भाव दृढ़ हो जावे तो यह जीवन अत्यन्त उपेक्षित क्रम पर जावेगा व आत्मा के भविष्य का इन्तजाम सर्वोपरि प्राथमिकता पर आ जावेगा और तब स्वयमेव ही जीवन में साधुता आ जावेगी। **– अंतर्द्वन्द, पृष्ठ-२९**

५. कैसी विडंबना है कि जो जीवन इतना अनिश्चित है; उसके बारे में मैं कितना आश्वस्त हूँ व जो मृत्यु इतनी निश्चित है; उसकी मुझे कोई परवाह ही नहीं। **– अंतर्द्वन्द, पृष्ठ-२७**

६. इन क्षणिक तात्कालिक महत्त्व की वस्तुओं के पीछे हम अपने आपको इस प्रकार समर्पित कर दें कि हमारे त्रैकालिक तत्त्व भगवान आत्मा का भावी अनन्त काल ही संकट में पड़ जावे; मोक्षस्वभावी यह आत्मा अनन्त काल तक भवभ्रमण के लिए मजबूर हो जावे – यह कैसे उचित हो सकता है ? **– अंतर्द्वन्द, पृष्ठ-२५**

७. नैतिक-अनैतिक तरीकों से उपार्जित धन व जीवन की अन्य उपलब्धियाँ तो जहाँ की तहाँ रह जावेंगी व तद्‌जनित कर्मबन्धों की शृंखला अनन्त काल तक मुझे जकड़े रहेगी। **– अंतर्द्वन्द, पृष्ठ-२६**

८. कौन कहता है कि मेरे पास कुछ नहीं अपने साथ ले जाने के लिए ? हाँ ले जाने लायक कुछ नहीं, पर ले जाने के लिए तो है न ? जीवन भर किये गये पापों का बोझ। **– अंतर्द्वन्द, पृष्ठ-५**

९. हमें तो लोक में पैसे से ज्यादा सुन्दर कुछ दिखाई ही नहीं देता है, न जाने कैसा गजब का आकर्षण है इसमें, सारी दुनिया दीवानी हुई जा रही है इसके पीछे। **– अंतर्द्वन्द, पृष्ठ-१४**

१०. जिस पैसे के लिए हम अपना सारा जीवन झोंक डालते हैं, क्या वह सम्पूर्ण पैसा देकर भी हम पुन: जीवन का एक क्षण भी खरीद सकते हैं ? नहीं! तब हम अपना यह जीवन धनोपार्जन में कैसे झोंक सकते हैं ? **– अंतर्द्वन्द, पृष्ठ-१४**

क्या मृत्यु अभिशाप है ?

लेखक

परमात्मप्रकाश भारिल्ल

प्रस्तावना

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

फोन : ०१४१-२७०७४५८, Email : ptstjaipur@yahoo.com

क्या मृत्यु अभिशाप है? : परमात्मप्रकाश भारिल्ल
प्रथम चार संस्करण : 13 हजार प्रतियाँ
(30 नवम्बर, 2008 ई. से अद्यतन)
पंचम संस्करण : 1 हजार प्रतियाँ
(21 अप्रैल, 2015 ई.)
अक्षय तृतीया
कुल : 14 हजार प्रतियाँ

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
1. क्या मृत्यु अभिशाप है ?	11
2. क्या विज्ञान धर्म की कसौटी हो सकता है ?	43

मूल्य : **6 रुपये**

प्रस्तुत संस्करण की कीमत करनेवाले दातारों की सूची

1.	श्री कैलाशचन्दजी जैन, ठाकुरगंज	1100.00
2.	श्री शान्तिलालजी जैन मेहन्दीवाले, बारां	1000.00
3.	नमृता जैन पुत्री श्री हरकचन्दजी अजमेरा रामगढ़ केन्ट	1000.00
	कुल राशि :	**3100.00**

मुद्रक :
सन् एन सन् प्रेस
तिलकनगर, जयपुर

प्रकाशकीय

(पंचम संस्करण)

आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि इस कृति के तेरह हजार प्रतियों के चार संस्करण 6 वर्ष में ही समाप्त हो गये। अतः अब यह एक हजार प्रतियों का पंचम संस्करण आपके हाथों में है।

प्रकाशन से पूर्व जब यह कृति मेरे हाथ लगी तो मैंने इसके एक-दो पृष्ठ पलट कर देखे और मैं इसे पूरी पढ़ गया। यह पाठकों को भावनाओं में बांधे रखने में समर्थ है और मुझे विश्वास है कि जो लोग धर्मक्षेत्र से दूर हैं, उन पाठकों को त्रैकालिक परमसत्य धर्म को जानने के लिए प्रेरित करेगी।

पुराने विषय को नये रूप में प्रस्तुत करनेवाली यह कृति समाधिमरण की प्रेरक कृति है। संसारावस्था में मरण तो सुनिश्चित ही है, यदि मृत्यु का वास्तविक स्वरूप हमारी समझ में आ जाय तो हम समताभावपूर्वक देह त्यागने के लिए स्वयं को तैयार कर सकते हैं।

आज का समाज धर्म को विज्ञान की कसौटी पर कसने के आग्रह से त्रस्त है और धर्म और विज्ञान संबंधी आलेख भी हमें तत्संबंधित हीन भावना से मुक्त करनेवाला है।

इस कृति की जो प्रति मुझे पढ़ने को मिली थी, उसमें लेखक का नाम नहीं था। कृति की उपादेयता प्रतीत होने से मुझे लेखक का नाम जानने की तीव्र जिज्ञासा हुई और मैंने डॉ. भारिल्ल से कहा कि यह कृति आपकी तो है नहीं; क्योंकि मैं आपकी भाषा और प्रतिपादन शैली से भलीभांति परिचित हूँ।

तब डॉ. भारिल्ल ने बताया कि यह निबंध चि. परमात्मप्रकाश ने लिखे हैं और इन्हें डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल चैरिटेबल ट्रस्ट छपा रहा है।।

तब मैंने तत्काल कहा कि इसे अपन पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से ही क्यों न छपायें ? मुझे प्रसन्नता है कि उन्होंने सहजभाव से स्वीकृति प्रदान कर दी। हमारे अनुरोध पर उन्होंने छोटी सी प्रस्तावना भी लिख दी है। तदर्थ हम लेखक के साथ-साथ उनके भी आभारी हैं।

प्रस्तुति कृति को आकर्षक कलेवर एवं सुन्दर मुद्रण व्यवस्था के लिए श्री अखिल बंसल को भी धन्यवाद देते हैं। **-ब्र. यशपाल जैन**

प्रकाशनमंत्री : पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

प्रस्तावना

यद्यपि मृत्यु एक ऐसा तथ्य है कि जिससे न तो बचा ही जा सकता है और न उसे टाला ही जा सकता है; क्योंकि प्रत्येक देहधारी की देह का वियोग अपने सुनिश्चित समय पर होता ही है; तथापि प्रत्येक प्राणी सबकुछ दाव पर लगाकर भी उससे बचने या कुछ समय को ही सही उसे टालने के प्रयास में निरन्तर प्रयत्नशील रहता है।

यद्यपि लोक के इसप्रकार के प्रयास अभी तक तो सफल हुये नहीं और न कभी होंगे ही; तथापि हम एक बार इस बात पर भी गंभीरता से विचार कर के देख लें कि यदि ये प्रयास सफल हो गये होते तो क्या होता या कभी भविष्य में इसप्रकार के प्रयास सफल हो गये तो क्या होगा?

जन्म और मरण के समानुपात के कारण ही जनसंख्या नियंत्रित रहती है। जन्म और मृत्यु का समानुपात बिगड़ जाने से निरन्तर वृद्धिंगत जनसंख्या आज की सबसे बड़ी समस्या बनी हुई है और सम्पूर्ण विश्व में जन्मदर को नियंत्रित करने के अथक् प्रयास हो रहे हैं; फिर भी स्थिति नियंत्रण में नहीं है।

यदि मृत्यु पूर्णतः समाप्त हो गई तो फिर जन्म को भी पूरी तरह रोकना अनिवार्य हो जावेगा। ऐसी स्थिति में विकास पूर्णतः अवरुद्ध हो जावेगा।

कल्पना कीजिए कि जनसंख्या नियंत्रण के लिये हम पचास वर्ष तक किसी को जन्म लेने ही न दें तो फिर एक दिन ऐसा आ जायेगा कि पचास वर्ष की उम्र से कम उम्र का कोई व्यक्ति रहेगा ही नहीं, सर्वत्र वृद्ध लोग ही दृष्टिंगत होंगे। ऐसी स्थिति में जब कोई व्यक्ति जवान रहेगा ही नहीं तो फिर किसी का जन्म लेना भी संभव नहीं रहेगा।

क्या आप ऐसी स्थिति के लिये तैयार हैं? नहीं, तो फिर मृत्यु से क्यों भागते हैं, उसे सहजभाव से क्यों स्वीकार नहीं करते?

इस पर भी यदि कोई कहे कि हम यह थोड़े ही चाहते हैं कि सभी

अमर हो जावें; हम तो मात्र स्वयं ही अमर होना चाहते हैं?

अरे, भाई ! एक तो ऐसा संभव नहीं है; क्योंकि जब आप अमर हो जावेंगे तो अन्य लोग क्यों नहीं? जिस उपाय से आप अमर होंगे; उसी उपाय से अन्य लोगों को अमर होने से कैसे रोकेंगे और वे रुकेंगे भी क्यों? क्योंकि आपके समान ही सभी को अमर होने की तीव्र इच्छा है।

यदि ऐसा हो भी गया तो आपकी स्थिति क्या होगी? कभी इसकी भी कल्पना की है आपने?

आपके पुत्र-पुत्रियों, नाती-पोते, उनके भी बच्चे और उनके भी बच्चों के बच्चे – सभी आपके सामने ही काल के मुख में जाते रहेंगे और आपको ही उन्हें कंधा देना होगा। क्या यह सब सहन कर सकेंगे आप?

पीढ़ियों के अन्तर (जनरेशन गेप) की समस्या का भी सामना करना होगा। जब आज दादा और पोते के विचारों में, रहन-सहन में, वस्त्रादि में आये अन्तर को भी समायोजित करना कठिन हो गया है; तब फिर अनेकानेक पीढ़ियों के अन्तर का क्या होगा? एक दिन ऐसा भी आ सकता है कि लोग आपको चिड़ियाघर के एक पिंजरे में कैद करदें और आप एक पुरातत्त्वीय वस्तु बन कर रह जावें।

जन्म-मरण की अत्यन्त व्यवस्थित वस्तुव्यवस्था में किसी भी प्रकार परिवर्तन संभव नहीं है और न इसप्रकार का कोई परिवर्तन हमारे हित में ही हैं; क्योंकि मृत्यु सड़ी-गली देह से मुक्त होने और एकदम नई स्वस्थ देह को प्राप्त करने का एकमात्र अवसर है।

जिसप्रकार हम जर्जर जीर्ण-शीर्ण पुराने मकान को छोड़कर, आधुनिकतम सुविधाओं से युक्त नये मकान में खुशी-खुशी जाते हैं; फटे-पुराने कपड़े उतारकर, एकदम नये कपड़े पहिनना पसन्द करते हैं; उसीप्रकार हमें इस जीर्ण-शीर्ण फटी पुरानी देह को छोड़कर, नई-नवेली देह में जाने के लिये खुशी-खुशी तैयार रहना चाहिये।

यदि हम ऐसा कर सकें तो हमारी यह मृत्यु महोत्सव हो जायेगी।

चि. परमात्मप्रकाश ने पहले निबंध में मृत्यु संबंधी उक्त सत्य पर बड़ी ही संजीदगी से गहन विचार किया है, अनेकानेक युक्तियाँ प्रस्तुत कर विषयवस्तु को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है।

'क्या विज्ञान धर्म की कसौटी हो सकता है?' इस दूसरे निबंध में भी उन्होंने यह समझाने का सार्थक प्रयास किया है कि धर्म भी आत्मा की शोध-खोज का प्राचीनतम व्यवस्थित विज्ञान है, वीतराग-विज्ञान है; क्योंकि वह वीतरागता की प्राप्ति कैसे होती है – इस पर व्यवस्थित प्रकाश डालता है। स्वयं में परिपूर्ण उक्त विज्ञान को इस आधुनिक भौतिक विज्ञान की कसौटी पर कसना; जो अभी स्वयं अपूर्ण है और प्रतिदिन अपनी ही बात को गलत सिद्ध करता प्रतीत होता है; कहाँ तक न्यायसंगत है?

जिस विज्ञान ने आज इतनी विनाशक सामग्री तैयार कर दी है कि यदि उसके शतांश का भी उपयोग हो जावे, प्रयोग हो जावे तो सम्पूर्ण विश्व नेस्तनाबूद हो सकता है; उस विज्ञान को तो धर्म के अंकुश की आवश्यकता है; अन्यथा वह विश्व को विनाश की विकराल ज्वाला में धकेल सकता है।

जिन लोगों ने ऐसे शस्त्रों का निर्माण किया है; वे लोग तो यही चाहेंगे कि उनके बनाये शस्त्रों का उपयोग हो; क्योंकि उन्हें उसी से प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। सत्ता के मद में मदोन्मत्त सत्ताधारी लोगों के पास भी इतना विवेक कहाँ है कि वे इस विश्व को विनाश से बचा सकें। अहिंसा धर्म और अहिंसक धर्मात्मा ही इस काम को बखूबी कर सकते हैं। अतः इस बात की आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस भौतिक-विज्ञान पर वीतराग-विज्ञान का अंकुश आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

दोनों ही आलेख गंभीर विचार मंथन के उपरान्त लिखे गये हैं; संबंधित विषय में किये गये गंभीर चिन्तन को सतर्क प्रस्तुत करते हैं।

अतः पूरी गंभीरता के साथ मूलतः पठनीय है।

२५ नवम्बर, २००८ ई. **– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर**

मुझे जो कुछ कहना है

आज हम अपने जीवन के किसी भी मोड़ पर क्यों न हों, यदि हम अपने अंतर में झाँककर अपने मानस को टटोलने का प्रयास करेंगे तो पाएँगे कि अपने जन्म से लेकर आज तक हम कितने ही अनुत्तरित प्रश्नों को ढोते चले आ रहे हैं और लगता है कि शायद अपने इस जीवन में हम इन सवालों का जवाब पा भी न सकेंगे। इस त्रासदी का शिकार मात्र हम अकेले ही नहीं हैं, वरन सभी लोग हैं। हम सभी।

अनंत लोग यहाँ आये, जीवन भर इन अनुत्तरित प्रश्नों का बोझ ढोते रहे और ऐसे ही चले गए; आज उनकी जगह हमने ले ली हैं। हम भी अब तक सफलतापूर्वक वह भारवहन कर रहे हैं। एक दिन हम भी चल देंगे एवं कोई और आ जावेगा, पर बदलेगा कुछ भी नहीं, सब कुछ वैसा ही चलता रहेगा, शायद वे प्रश्न अनुत्तरित ही बने रहेंगे।

आखिर क्या हैं वे प्रश्न? उनका जवाब मिलता क्यों नहीं? कब मिलेगा उनका जवाब? यदि मिलेगा तो कब, कहाँ, किससे और कैसे?

ये सारे प्रश्न हैं आत्मा-परमात्मा, जीवन-मरण, कर्म और उनका फल, आत्मा का अस्तित्व व पुनर्जन्म इत्यादि विषयों से सम्बन्धित।

ये सारे प्रश्न ऐसे हैं कि जिनका उत्तर तत्काल मिलना आवश्यक व महत्त्वपूर्ण हैं। इनका उत्तर पाने के लिए हम एक और कल तक का इंतजार करें – यह हमारी भारी भूल होगी; क्योंकि इन सारे प्रश्नों के उत्तर में ही हमारे वर्तमान जीवन का रहस्य छुपा हुआ है। इन प्रश्नों के उत्तर से ही हमारे जीवन को दिशा मिलेगी। हम यह निर्णय कर पाएँगे कि हम यह जीवन किसप्रकार जियें, हमारी जीवन प्रणाली कैसी हो, इस जीवन में हमारी प्राथमिकतायें क्या हों, इस जीवन में क्या करना महत्त्वपूर्ण है?

यदि हम अपने जीवन को दिशा देने का यह कार्य आज नहीं करेंगे तो कब करेंगे, क्या जीवन बीत जाने के बाद ?

कोई कह सकता है कि अभी तो हम जवान हैं, पूरा बूढ़ापा तो पड़ा है कि यह सब करने के लिए; उनसे मैं कहना चाहता हूँ कि भाई! बुढ़ापे का वह मजबूरियों व पराधीनता से भरा कमजोर जीवन भला जीवन को क्या दिशा देगा? यदि दिशा मिल भी गयी तो अब चलने के लिए शेष बचा ही कितना है? एक बात और भी है कि इस बात की क्या गारंटी है कि तू बूढ़ा होगा ही? कौन जाने यह जीवन दीप कब बुझ जावे, तब यह कार्य तू कब करेगा?

इनके अतिरिक्त और भी अनेकों ऐसे प्रश्न हैं, जो मात्र वर्तमान में ही प्रासंगिक होते हैं। (हाँ! यह वर्तमान एक मिनिट से लेकर एक जीवन तक कुछ भी हो सकता है।) तात्कालिक महत्त्व के अनेक प्रश्न हमारे मन में उठते हैं व अनुत्तरित ही कालांतर में वहीं दफन हो जाते हैं।

'धार्मिक व दार्शनिक मान्यताओं का विज्ञान की नजर में क्या स्थान है, क्या वे विज्ञान की कसौटी पर खरी उतरती हैं?' – ऐसे ही कुछ प्रश्न हमें निरंतर परेशान किये रहते हैं व हमें दृढ़ता पूर्वक धर्म व अध्यात्म की दिशा में आगे नहीं बढ़ने देते।

अविचारी लोगों की तो बात ही क्या करें, पर विचारवान लोगों के चित्त में यह प्रश्न तब उठना प्रारंभ होते हैं, जब जीवन की दौड़ में भरपूर हाथ आजमा लेने के बाद भी कुछ हाथ लगता दिखाई नहीं देता। जीवन अर्थहीन ही दिखाई देता है, तब प्रश्न उछ्ता है कि 'अब क्या' ?

पहिले जब-जब भी कोई कहता था कि 'अरे! क्या मात्र इस आज में ही उलझा रहेगा? कुछ कल का तो विचार कर; आज के इस क्षणिक आनंद के लिए अपने भविष्य को क्यों खतरे में डालता है।'

तब यह कहता था कि 'कल किसने देखा है, तुम्हारे इस काल्पनिक, सपनों के कल के लिए अपना यह जीता-जागता प्रत्यक्ष 'आज' क्यों दाँव पर लगाऊँ ?' और सिर्फ अपना 'आज' ही संभालने में अपना सारा जीवन ही बिता देने के बाद जब कुछ भी हाथ नहीं आता और यह जीवन

भी समाप्त होता दिखने लगता है, तब इसे भविष्य की याद आती हैं। कल तक जो भविष्य के लिए कुछ भी करना भारभूत लगता था; बन्धनकारक लगता था; अब उसी भविष्य की चाहत पैदा होने लगती हैं।

अब यदि भविष्य न हो, पुनर्जन्म न हो तो सब कुछ समाप्त होता दिखने लगता है। तब इसे पुनर्जन्म की चाहत पैदा होने लगती है। अब यह उसकी संभावनायें तलाशने लगता है। जहाँ आशा की एक क्षीण सी भी किरण दिखाई देती है, उसका आधार खोजने का प्रयास करता है; उसकी सच्चाई के बारे में आश्वस्त होना चाहता है और फिर उस भविष्य को संवारने के उपाय खोजने लगता है, संवारने के प्रयासों में जुट जाता है। इस जन्म की कमाई को अगले जन्म में ट्रांसफर करने के उपाय खोजने व करने लगता है। इस क्रम में इसे कर्म व कर्मफल के विधान की आवश्यकता भासित होती है और यह इस गुत्थी को सुलझाने के प्रयास में और अधिक उलझता चला जाता है।

इस संबंध में अनेक प्रश्न दिमाग में उठते हैं। क्या स्वयं किये कर्मों का फल हमें भोगना ही पड़ता है, क्या इससे बचने का कोई उपाय नहीं है; क्योंकि ऐसे कर्म तो कोई करता नहीं है, जिसका फल भोगने की चाहत मन में हो। हमारे कर्म तो ऐसे होते हैं, जिनके फल भोगने से हम किसी भी कीमत पर बचना चाहते हैं और इसी प्रक्रिया में ऐसी किसी सर्वशक्तिमान हस्ती की आवश्यकता महसूस करते हैं जो हमारे स्वयंकृत कर्मों का अभिशाप भुगतने से हमें मुक्त कर दे; चाहे मात्र पूजा-भक्ति या प्रार्थना की कीमत पर या फिर कुछ ले-देकर ही सही।

इसप्रकार भगवान हमारे जीवन में आते हैं।

जब ऐसे किसी भगवान की कल्पना हमारे चित्त में आती है, जो हमें हमारे स्वयंकृत कर्मों का फल भोगने से बचा सके; तब ऐसा कोई सर्वशक्तिमान परमात्मा तो हमें दिखाई देता नहीं, वह तो मात्र हमारी तथाकथित आस्था के सिंहासन पर ही विराजमान रहता है; पर इस तरह

के कार्य सम्पन्न कर देने का दावा करने वाले कुछ तथाकथित छोटे-छोटे परमात्मा हमें अपने इर्द-गिर्द ही मिल जाते हैं और तब 'मरता, क्या न करता' इस नीति के अनुसार हम सहज ही उनकी गिरफ्त में आ जाते हैं।

जीवन के इस मुकाम पर व्यक्ति के पास शक्ति, समय व धैर्य का नितान्त अभाव होता है। ऐसे में उसके पास इन प्रश्नों के उत्तर से सम्बन्धित विभिन्न प्रचलित मान्यताओं के अध्ययन और उसकी प्रामाणिकता को जाँचने का अवसर नहीं होता है और अमूमन यह अपने आसपास प्रचलित मान्यताओं से ही अपने आपको बहलाने लगता है। असमंजस की ऐसी स्थिति में उसके इन विचारों में दृढ़ता का अभाव बना ही रहता है, फलस्वरूप प्रयत्न भी शिथिल से बने रहते हैं, तब साध्य की सिद्धि कैसे हो – इसप्रकार अपने आत्मा-परमात्मा के स्वरूप को समझकर उसके कल्याण करने का एक स्वर्णिम अवसर एक बार फिर हाथ से निकल जाता है।

प्रस्तुत कृति ऐसे ही अनेकों प्रश्नों के उत्तर प्रस्तुत करने के क्रम में मेरा प्रथम प्रयास है। इसका अध्ययन पाठकों में चिंतन की एक सार्थक प्रक्रिया प्रारम्भ करने में निमित्त बने व चिंतन को एक दिशा दे सके तो मेरा यह प्रयास सार्थक होगा।

२५ नवम्बर, २००८ ई. **– परमात्मप्रकाश भारिल्ल**

क्या मृत्यु अभिशाप है ?

"आज मृत्यु महोत्सव का मंगलमय प्रसंग है।"

आपको अटपटा लग रहा होगा कि मैं यह क्या कह रहा हूँ? कहीं मजाक तो नहीं कर रहा हूँ? क्या यह मजाक का अवसर है?

नहीं! कदापि नहीं!!

यह मैं नहीं कह रहा हूँ। यह तो शास्त्रों में लिखा है। आचार्यों ने मृत्यु को महोत्सव कहा है।

महोत्सव तो मंगलमय प्रसंग हुआ करता है, आनन्द से ओतप्रोत, परिपूर्ण ! फिर यह शोकमय प्रसंग कैसे बन गया? इसमें रोना-धोना कहाँ से शामिल हो गया?

रोना-धोना शामिल क्या हो गया ? मात्र 'रोना-धोना' ही तो बचा है; हँसना-बोलना तो वर्जित हो गया है।

आखिर यह कैसे हुआ?

कब और कैसे यह आनंदमय महोत्सव, एक रुदन व क्रन्दन (रोने व बिलखने) के कार्यक्रम में बदल गया; हमें इस तथ्य की गहराई में जाना होगा।

पहिले हम यह समझेंगे कि आखिर क्यों आचार्यों ने इसे 'मृत्यु महोत्सव' कहा?

हम लोग दीपावली के दिन नये वस्त्र धारण करते हैं व पुराने वस्त्रों को तिलांजलि दे देते हैं; छोड़ देते हैं। यही काम मुस्लिम लोग ईद के दिन करते हैं व ईसाई लोग करते हैं क्रिसमस के दिन।

मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि हिन्दुओं की दीपावली, मुस्लिमों की ईद या ईसाइयों की क्रिसमस, मातम का दिन है या महोत्सव का? उस

दिन लोग जश्न मनाते हैं या क्रन्दन (रोते) करते हैं?

इसी परिप्रेक्ष्य (सन्दर्भ) में हम मृत्यु को देखें। मृत्यु आखिर है क्या? मृत्यु में कुछ नष्ट नहीं होता; मात्र परिवर्तन होता है; अवस्था का परिवर्तन; शरीर का परिवर्तन; हम पुरानी जीर्ण, जर्जर देह छोड़कर, नई देह धारण करते हैं, इसमें मातम कैसा ?

शाश्वत आत्मा अर्थात् कभी नष्ट न होने वाला आत्मा मृत्यु व जन्म के माध्यम से अपना चोला बदलता है, शरीर बदलता है, देह का परिवर्तन करता है; ठीक उसीप्रकार जिसप्रकार हम कपड़े बदलते हैं।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि **देह परिवर्तन की यह प्रक्रिया सिर्फ मृत्यु के द्वारा सम्पन्न नहीं होती, वरन् मृत्यु व जन्म दोनों घटनाओं की एक मिली-जुली प्रक्रिया है।** जीव एक स्थान पर मृत्यु को प्राप्त होता है व अगले ही क्षण दूसरे स्थान पर जन्म लेता है, एक देह छोड़ता है व दूसरी धारण करता है। इसप्रकार मृत्यु सम्पूर्ण घटनाक्रम का मात्र एक पहलू है, मृत्यु अपने आप में सम्पूर्ण घटनाक्रम नहीं है। फिर भी हम जन्म को आनन्द का विषय मानते हैं तो मृत्यु को शोक का।

जब जन्म और मृत्यु एक ही घटना के दो पहलू हैं तो फिर एक को आनन्द और दूसरे को शोक के रूप में कैसे देख सकते हैं ?

दरअसल इस पूरे घटनाक्रम का कार्यक्षेत्र बहुत बड़ा है, पूरा लोकाकाश। इस ब्रह्माण्ड में जहाँ-जहाँ जीव जा सकते हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं। जीव इस लोक के एक स्थान पर मृत्यु को प्राप्त होता है और वहाँ से कहीं दूर जन्म लेता है। हालाँकि यह सम्पूर्ण घटनाक्रम कुछ ही पलों में घटित हो जाता है; तथापि क्षेत्र की दूरी व अज्ञान के कारण मृत्यु व जन्म की घटनाओं से सम्बन्धित दोनों समूह एक दूसरे से अलग-अलग बने रहते हैं, अनजान बने रहते हैं व एक दूसरे के गम व खुशी के दो तीव्रतम व परस्पर विरोधी अहसासों के सहभागी नहीं बनते।

यूँ तो मृत्यु को प्राप्त आत्मा हमारा सम्बन्धी था व अब उसने जहाँ

जन्म लिया है; उनका भी सम्बन्धी बन गया है। इस रिश्ते से वे सभी लोग हमारे भी तो सम्बन्धी बन गए हैं। सम्बन्धी के दुःख-सुख में सम्बन्धी शामिल नहीं होंगे तो कौन होगा ? इस रिश्ते से तो उन्हें हमारे मृत्यु सम्बन्धी गम में शामिल होना चाहिये व हमें उनके यहाँ मनाए जाने वाले जन्म सम्बन्धी जश्न में; पर ऐसा होता नहीं।

एक ओर मृत्यु का मातम चलता रहता है, पुरजोर ! और दूसरी ओर जन्म की खुशियाँ मनाई जाती हैं, इस तथ्य से सर्वथा बेखबर कि जिस जीव ने हमारे यहाँ जन्म लिया है, वही कहीं न कहीं मृत्यु को प्राप्त हुआ है और वहाँ मृत्यु उसे अभीष्ट (स्वीकार) नहीं थी, यह उसका अप्रिय प्रसंग था।

परिवर्तन का ऐसा ही प्रसंग विवाहादिक के अवसर पर भी तो उपस्थित होता है, न सही देह का परिवर्तन; गृह परिवर्तन ही सही।

यह परिवर्तन भी कोई छोटा-मोटा नहीं है। कन्या के लिए तो यह बहुत बड़ा परिवर्तन है। **क्या कुछ नहीं बदलता? सब कुछ ही बदल जाता है, घर बदल जाता है, परिवार बदल जाता है, नगर व डगर बदल जाती है, कुल-गोत्र बदल जाते हैं, और तो और रिश्ते बदल जाते हैं। अपने पराये हो जाते हैं और पराये अपने।** फिर भी तब तो कोई विलाप नहीं करता, सभी महोत्सव मनाते हैं। वर पक्ष वाले तो खुशियाँ मनाते ही हैं; पर कन्या पक्ष वाले भी पीछे नहीं रहते, वे भी उतने ही प्रसन्न होते हैं।

इसप्रकार हम पाते हैं कि **मृत्यु व जन्म की तरह ही 'शादी' भी विरह व मिलन की ही एक प्रक्रिया है, कहीं विरह होता है, तब कहीं मिलन होता है।** कन्या अपने माता-पिता को छोड़कर ससुराल जाती है। यदि शादी की प्रक्रिया में विरह में जश्न ही मनाया जाता है, आनन्द की अनुभूति होती है; तब एक बात तो साबित हो ही जाती है कि **विरह अपने आप में कोई दुःख नहीं है, विरह हमेशा ही दुःखमय व दुख का कारण नहीं हुआ करता; तब मृत्यु के सन्दर्भ में भी मात्र विरह ही शोक**

का कारण नहीं हो सकता। वहाँ शोक का कारण कुछ अन्य होना चाहिए।

यूँ तो सभी परिवर्तन सुनिश्चित हैं व हमारे हाथ में कुछ भी नहीं; तथापि यदि हम तुलना करेंगे तो पायेंगे कि विवाहादिक व परदेश गमनादिक के द्वारा सृजित विरह तो ऐच्छिक (Optional) हैं। हम चाहें तो उसे स्वीकार करें या इन्कार कर दें; तथापि हम स्वयं उसे स्वीकार करते ही हैं; व मृत्यु सम्बन्धी विरह तो अपरिहार्य (Unavoidable) है, उसे मेटा नहीं जा सकता और हम उसी को स्वीकार नहीं करना चाहते।

यदि विरहमात्र ही दुःख का कारण है तो जिन विरह प्रसंगों को रोकना हमारे हाथ में हैं; हम उन्हें क्यों स्वीकार करते हैं ?

विरह के तो कई अन्य प्रसंग भी जीवन में उपस्थित होते हैं। जैसे कि पुत्र व मित्रादिक अपना घर छोड़कर दूर देश में जा बसते हैं और वहाँ से बरसों तक लौटते ही नहीं हैं। जब वे एक दूसरे से बिछुड़ रहे होते हैं, तब वे स्वयं नहीं जानते कि अब वे कब मिलेंगे, कभी मिलेंगे भी या नहीं? क्योंकि अब दश-पाँच वर्षों के बाद ही समीप आने-जाने का प्रसंग आ पायेगा। इन दस-पाँच वर्षों तक कौन जीवित रहेगा और कौन नहीं, कोई नहीं जानता। तब भी वे प्रसन्नतापूर्वक एक दूसरे से विदा होते हैं; क्योंकि विदाई के इस प्रसंग में विरह तो गौण है। मुख्यता है भावी जीवन के प्रति सुखद परिकल्पनाओं की। पद-प्रतिष्ठा, दौलत व सत्ता और धन व वैभव प्राप्त होंगे, घर-परिवार फलेगा-फूलेगा, इत्यादि सुखद परिकल्पनायें विरह की पीड़ा को तिरोहित कर देती हैं, गौण कर देती हैं।

एक बात और है कि यद्यपि हम विरहित हो रहे होते हैं, अलग हो रहे होते हैं; तथापि विरह की अनुभूति नहीं होती, पीड़ा नहीं होती; क्योंकि एक आशा बनी रहती है कि हम चाहें तब मिल सकते हैं, एक दूसरे के पास आ-जा सकते हैं। इसप्रकार जबतक मिलने की सम्भावना बनी रहती हैं, तब तक मिलने की इच्छा भी उत्पन्न नहीं होती या यूँ

कहिए कि इतनी प्रबल नहीं होती कि मिलने का प्रयत्न किया जावे, उपक्रम किया जावे।

इसप्रकार हम बरसों एक दूसरे से मिल ही नहीं पाते, तब भी शोक नहीं होता और तभी अचानक एक दिन समाचार प्राप्त होता है कि फलाँ व्यक्ति नहीं रहा, उसका अवसान हो गया; देहावसान; और हम आर्तनाद (पीड़ाभरी चीख) कर उठते हैं, क्यों? क्योंकि वह अब कभी नहीं मिलेगा।

मैं पूछता हूँ तुम्हें उससे मिलने की आवश्यकता ही क्या आ पड़ी है? बीस वर्षों से तो आवश्यकता पड़ी नहीं। बीस वर्षों से तो मिले नहीं। यद्यपि मिल सकते थे, कभी भी; क्योंकि दोनों ही इसी पृथ्वी पर तो रहते आये हैं, भले ही दो अलग-अलग ध्रुवों पर ही सही; पर चाहते तो कभी भी मिल सकते थे न ? पर कभी चाहत ही न हुई। तब अब क्यों रोता है ? जो अब तक न हुआ वो अब क्यों कर होगा ?

पर नहीं ! हमें तो सभी सम्भावनाओं के दरवाजे खुले रखने हैं। **हमें न मिलने का दुख नहीं होता, हमें अफसोस होता है न मिल सकने का।**

यहाँ हमारी समस्या विरह नहीं है, यहाँ हमारी व्यथा मजबूरी है, हमारा असहायपना है।

विरही तो हम वर्षों से थे, पर व्यथित नहीं थे; क्योंकि विरह हमारी बेवसी नहीं थी, हमने स्वयं उसका वरण किया था, पर आज; आज स्थिति उलट गई है, आज विरह हमारी नियति (Destiny) **बन गया है, अब हम लाख चाहें, कभी मिल नहीं सकते। आज विरह हमारी मजबूरी बन गया है और यही मजबूरी हमें विचलित करती है, क्रन्दन को जन्म देती है, विरह नहीं।**

शादी से उत्पन्न हुए विरह में भी यही तो होता है; उस विरह का वरण हम स्वयं करते हैं, अपने काल्पनिक स्वर्णिम भविष्य के सुनहरे स्वप्न संजोते हुए, और इसप्रकार शादी के फलस्वरूप सर्जित विरह हमें व्याकुल नहीं करता।

मृत्यु के सन्दर्भ में ऐसा नहीं होता। मृत्यु का वरण हम स्वयं नहीं करते, सप्रेम; बल्कि हम तो उससे भागते ही रहते हैं, निरन्तर; अरे सचमुच तो क्या, कल्पना में भी मृत्यु को अपने पास नहीं फटकने देना चाहते, उसकी चर्चा तक हमें पसन्द नहीं। यदि कभी प्रसंगवश चर्चा चल ही पड़े तो हम तत्क्षण उसे रोक देना चाहते हैं, बलात्।

हालांकि शादी-ब्याह की चर्चा हम बड़े चाव से करते हैं, उसकी चर्चा चलने पर हमारा मन बल्लियों उछलने लगता है, दूर देश जाने की चर्चा चलने पर भी हम अनन्त उत्साह से भर उठते हैं, फिर मृत्यु की चर्चा आने पर ही क्यों मायूस हो जाते हैं; **क्योंकि मृत्यु के बाद का जीवन हमारी नजरों से ओझल रहता है। अरे! नजरों से तो क्या, कल्पना से भी ओझल रहता है। मृत्यु के बाद हमारे पास भविष्य की कोई परिकल्पना नहीं होती और तो और भविष्य है भी या नहीं, इसके बारे में भी हम सशंकित ही रहते हैं।**

आखिर ऐसा क्यों होता है ? जब विवाह, या लम्बे-लम्बे समय के लिए परदेश गमनादि भी विरह के ही प्रसंग हैं और तब भी ये प्रसंग शुभ प्रसंग ही कहे व माने जाते हैं; तब उसीतरह का 'मृत्यु' नामक यह प्रसंग हमें क्यों अनिष्ट लगता है, क्यों अशुभ लगता है, क्यों हमें भयभीत करता है ? इसका एकमात्र कारण है, हमारी दृष्टि की संकीर्णता। विवाहादि में जहाँ वर्तमान तो हमारे सामने है ही, जीता-जागता; साथ ही भविष्य भी हमारी दृष्टि से ओझल नहीं है, भविष्य है व उसके बारे में स्वर्णिम परिकल्पना भी है। मृत्यु के बारे में ऐसा बिलकुल नहीं है।

मृत्यु के बारे में भय या आशंका सिर्फ इस बात की ही नहीं रहती कि मृत्यु के बाद के संयोग कहीं वर्तमान संयोगों से बदतर न हों; बल्कि हमें **तो मृत्यु के बाद अपना अस्तित्व ही संदिग्ध दिखाई देता है और इसीलिए मिट जाने की अपेक्षा हम बने रहना पसन्द करते हैं, जीवन में चाहे कितने ही विपरीत संयोग हों, हम मरना नहीं चाहते।**

जैसा कि मैंने प्रारम्भ में ही कहा कि उत्सवों के प्रसंग पर हम पुराने वस्त्रों का त्याग कर नये वस्त्र धारण करते हैं व प्रसन्न होते हैं। चोले का यह परिवर्तन आनन्द का प्रसंग होता है, जश्न का प्रसंग होता है, तब इस देह के परिवर्तन का प्रसंग क्योंकर दुखकर कहा जावे, माना जावे; जबकि हमारी यह वर्तमान देह वृद्ध व जर्जर हो चुकी है, तेजहीन हो चुकी है, अशक्त हो चुकी है और यह सब हमें बिल्कुल अभीष्ट (इच्छित) नहीं है।

हमें युवा बने रहना पसंद है, हम बचपन व यौवन की ओर ललचाई नजरों से देखते हैं, हम पुनः यौवन पाना चाहते हैं व उसे पाने के लिए क्या-क्या नहीं करते ? समय बर्बाद करते हैं, धन बर्बाद करते हैं, तब भी क्या हो पाता है ? कुछ भी तो नहीं। दूसरी ओर पुनः बचपन व यौवन प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन उपलब्ध है, मृत्यु व पुनर्जन्म; तब क्यों नहीं हम इस विकल्प की ओर आकर्षित होते हैं ?

आकर्षित होने से मेरा तात्पर्य यह नहीं कि हम आत्महत्या कर लें, स्वेच्छा से मृत्यु का वरण कर लें; पर जब यह कार्य प्राकृतिक तरीके से हो ही रहा हो, तब उसका इतना तीव्रतम प्रतिरोध क्यों ? उसके प्रति अनिच्छा क्यों, भय क्यों ?

इसका एकमात्र कारण है, आत्मा की अजर-अमरता के बारे में हमारा संदेह, हमारा अनिर्णय; पुनर्जन्म होने के बारे में हमारी आशंका।

हालांकि जगत के सभी महत्त्वपूर्ण दर्शन पुनर्जन्म में आस्था रखते हैं और इसीलिए किसी भी दर्शन में आस्था रखनेवाले व्यक्ति को इसके बारे में शंकित नहीं होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं है; क्योंकि धर्म व दर्शनों के बारे में भी हम सभी की आस्था का स्वरूप कुछ विचित्र प्रकार का ही है।

एक ओर हमें जगत की विशालता व प्राकृतिक व्यवस्थायें आश्चर्य-चकित करती हैं एवं फलस्वरूप इन सभी व्यवस्थाओं का संचालन करनेवाली किसी पारलौकिक शक्ति या सर्वशक्तिमान की परिकल्पना

जन्म लेती है, हम उसके प्रति श्रद्धावनत होते हैं। उसके दंड विधान से भयभीत होते हैं और इसलिए उसे रिझाने के लिए उसके समक्ष नतमस्तक होते हैं; तथापि उसके प्रति हमारी श्रद्धा सुविधाभोगी ही बनी रहती है। धर्म के जो विधान हमें अपने अनुकूल लगते हैं, उन्हें हम स्वीकार कर लेते हैं व जो प्रतिकूल लगते हैं, उनकी हम अनदेखी कर देते हैं।

हम धर्मभीरू (धर्म से डरनेवाले) हैं, धर्मात्मा नहीं, धर्म के पालक नहीं, धार्मिक नहीं। धर्म के प्रति अनजाने ही एक अजीबोगरीब उपेक्षा भाव हमारे मस्तिष्क में है, हमारी मनोवृत्ति में है। धर्म के किसी भी विधान को अपनी सुविधा-असुविधा के हिसाब से हम स्वीकार या अस्वीकार भले कर लेते हैं, पर उनकी सत्यता या असत्यता की जाँच करने की हम कभी कोशिश ही नहीं करते, हमें उसकी आवश्यकता ही महसूस नहीं होती।

धर्म के प्रति हमारा यह रवैया क्यों है, कैसा है, कैसा होना चाहिए ? आदि, यह पृथक् समीक्षा का विषय हैं व इसकी चर्चा हम अन्यत्र करेंगे।

यहाँ तो हमारी चर्चा का विषय यह है कि जब सभी दर्शन पुनर्जन्म की अवधारणा पर ही आधारित हैं व हम सभी लोग धर्म में भरोसा रखते हैं; तब हमें पुनर्जन्म के बारे में आशंका क्योंकर होनी चाहिए ? और यदि अब **हम आत्मा की 'अजर-अमरता', 'अनादि-अनन्तता' को स्वीकार कर ही लेते हैं, तब मृत्यु से भय क्यों होना चाहिए।** अरे ! भय की तो बात ही क्या ? क्या कदाचित् हमें उसके प्रति लालायित नहीं होना चाहिए ? एक नई शुरूआत के लिए, एक नई सुबह के लिए, एक नये परिवेश के लिए, एक और नई पारी के लिए।

जब उक्त युक्तियाँ हमारे समक्ष प्रस्तुत की जाती हैं तो हमें लगने तो लगता है कि होना तो यही चाहिए; पर हम स्वयं नहीं समझ पाते कि ऐसा होता क्यों नहीं है ? हमें लगता है कि तर्क तो ठीक है, पर आखिर विवाह व मृत्यु दोनों को हम एक ही श्रेणी में कैसे रख सकते हैं ? हालांकि कन्या

के विवाह व स्वयं की मृत्यु में बहुत करीबी समानतायें हैं।

विवाह के बाद कन्या का नाम, गोत्र, कुल, परिवार, घर, गाँव, सम्पत्ति, अधिकार, अपने-पराये सब बदल जाते हैं और इसीप्रकार मृत्यु होने पर पुनर्जन्म में भी होता है, फिर यदि कन्या यह सब जानते हुए खुशी-खुशी विवाह करती है, तब ऐसी ही समान स्थितियों में हम मृत्यु से भयभीत हों, यह समझ से परे है।

तब फिर वह कौनसा कारण है जो अव्यक्त में ही हमें मृत्यु के प्रति भयभीत बनाये रखता है ?

तनिक गहराई से विचार करने पर समझ में आता है कि मृत्यु के द्वारा होनेवाला परिवर्तन, कपड़े बदलने से या विवाह से या परदेश गमन एवं स्थान परिवर्तन से इसलिए भिन्न है कि वस्त्र बदलने से पूर्व नये वस्त्रों का चुनाव हम स्वयं करते हैं व तब उन्हें देखभाल कर, पसन्द करके, उन्हें अपने लिए अनुकूल व आनन्ददायक जानकर स्वीकार कर लेते हैं व प्रसन्नतापूर्वक पुराने वस्त्र त्याग देते हैं।

विवाहादि के बारे में भी ऐसा ही है। हम स्वयं अपने भावी जीवन साथी व भावी जीवन का चुनाव करते हैं, उनकी विवेचना करते हैं, उसे वर्तमान से अच्छा व आनन्ददायक मानकर उसका वरण करते हैं व गाते-बजाते, खुशी-खुशी अपने वर्तमान को त्याग देते हैं।

अपनों को व घर को छोड़कर दूर देश जा बसने से पहले उसके बारे में सारी जानकारी प्राप्त कर लेते हैं व बेहतरी से आश्वस्त होकर ही कोई कदम आगे बढाते हैं।

इसप्रकार यहाँ हमें लगता है कि चुनाव हमारे ही हाथ में है व भविष्य निश्चित ही हमारे वर्तमान से बेहतर है, इस विश्वास के साथ हम आगे बढते हैं, पर मृत्यु के बारे में ऐसा नहीं है, वहाँ न तो भविष्य को चुनने का अधिकार हमारे हाथ में है और न ही उसके बारे में जानकारी ही है, तब कैसे हम यहाँ जो जैसा है, देखा-जाना व Well settled वह सब कुछ

छोड़कर एक अन्धे कुएँ में अपने आपको झोंक दें।

बस, इसीलिए हम मृत्यु से डरते हैं।

वस्तुत: तो जगत के समस्त संयोग या वियोग सुनिश्चित ही हैं, उन्हें चुनना हमारे हाथ में है ही नहीं, फिर भी विवाहादिक प्रसंगों पर हमारे इस भ्रम की पुष्टि होती सी दिखाई देती है कि चुनाव हमने किया है और चाहते तो इन्कार भी कर सकते थे; परन्तु मृत्यु के सन्दर्भ में हमारे इस भ्रम की पुष्टि नहीं होती है; क्योंकि हम चाहें या न चाहें, मृत्यु अपरिहार्य है।

जब मृत्यु निश्चित ही है व इसे मेंटा ही नहीं जा सकता, तब क्यों न हम इसे स्वीकार ही कर लें ? पर नहीं, यहाँ भी हमें आशा की एक किरण दिखाई दे ही जाती है। हम बड़े ही आशावादी जो ठहरे।

हमें लगता है कि ठीक है मृत्यु होना तो निश्चित है, उसे मेंटा तो नहीं जा सकता, पर टाला तो जा सकता है न ! आज होनेवाली मृत्यु को कल तक के लिए ही सही, टाला तो जा सकता है न ! और यदि एक कल के लिए ऐसा किया जा सकता है तो दो-चार कलों के लिए क्यों नहीं ? अरे अनन्त कलों के लिए क्यों नहीं, अनन्त काल के लिये क्यों नहीं ?

और इसप्रकार **हमें जहाँ वस्तुस्वरूप में परिवर्तन करने की तनिक सी गुजांइश दिखाई देती है; वहाँ हम अनन्त सम्भावनाओं की तलाश करने लगते हैं।**

क्या सचमुच मृत्यु को कुछ समय के लिए टाला जा सकता है, यह पृथक् चिन्तन का विषय है।

यहाँ तो हमारी व्यथा यह है कि अन्य विषयों की तरह मृत्यु के सन्दर्भ में, मृत्यु का समय व प्रकार तथा मृत्यु के बाद के पुर्नजन्म को चुनने व जानने का साधन हमारे पास नहीं है; पर यह सच नहीं है।

क्या कहा ?

तो क्या कोई ऐसा तरीका है, जिससे हम अपना अगला जीवन सुनिश्चित कर सकते हैं ? जान सकते हैं ?

हम यकायक सक्रिय हो जाते हैं; हमें आशा की एक क्षीण सी ही सही, किरण दिखाई देने लगती है।

हाँ, मैं कहता हूँ कि हम अपने अगले जीवन का चुनाव भी कर सकते हैं व जान भी सकते हैं।

जगत में चुनाव की भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ होती हैं। यह पद्धति भी कुछ अलग ही तरह की है। इसीप्रकार देखने-जानने के तरीके भी भिन्न-भिन्न होते हैं। कुछ चीजों को सीधे-सीधे जाना जा सकता है व कुछ को अनुभव के आधार पर अनुमान से। कुछ दृश्य अत्यन्त स्पष्ट होते हैं व उन्हें हर कोई पढ़ सकता है, पर कुछ दृश्यों को पढने के लिए अनुभव की आँखें चाहिए।

सामान्य फोटोग्राफ को तो कोई भी स्पष्ट देख समझ सकता है, पर एक्सरे फोटोग्राफ को देखने, समझने व जानने के लिए, उसमें से निष्कर्ष निकालने के लिए एक गहरे अनुभव की आवश्यकता होती है।

हाँ ! हम अपना अगला जीवन अनुमान ज्ञान के आधार पर जान भी सकते हैं और सुनिश्चित भी कर सकते हैं।

जगत के सभी प्रमुख दर्शन मानते हैं कि यह जीव स्वयं जिसप्रकार के कर्म करता है, तदनुसार फल प्राप्त करता है।

कर्तावादी दर्शन मानते हैं कि कोई ईश्वरीय शक्ति इन सब क्रियाकलापों का नियंत्रण करती है व जीव के द्वारा किए गए कर्मों के अनुसार उसकी नियति का निर्धारण करती है व अकर्तावादी दर्शनों के अनुसार यह एक स्वचालित प्रक्रिया है, तथापि **यह निर्विवाद मान्यता है कि अपने-अपने कर्मों का फल सभी जीव भोगते हैं।**

उक्त तथ्य को स्वीकार करते ही हम अनिश्चित कहाँ रहते हैं, परवश कहाँ रहते हैं, अनाथ कहाँ रहते हैं ? इस तथ्य को स्वीकार करते ही हम स्वयं अपने भविष्य के एक सक्षम नियंता के रूप में स्थापित हो जाते हैं, सिर्फ अगले जनम के लिए ही नहीं; आगामी अनंतकाल तक

के लिए अनन्त जन्मों के लिए, अपने इसी जन्म के बाकी बचे समय के लिए भी और तो और वर्तमान के लिए भी।

प्रसंगवश एक बात और स्पष्ट कर दूँ कि जनसामान्य की यह धारणा कि 'जीव पूर्वजन्म के कर्मों का फल इस जीवन में भोगता है व इस जीवन के कर्मो का फल अगले जीवन में भोगेगा' पूरी तरह सही नहीं है।

कर्मों का फल भोगने की सीमा का निर्धारण भव (योनि) के आधार पर नहीं है, वरन काल के आधार पर है। कर्मबन्ध व उदय की प्रक्रिया कुछ इसप्रकार की है कि बांधे गए कुछ कर्म बहुत समय के बाद उदय में आकर फल देते हैं व कुछ कर्म तत्काल ही उदय में आकर फल देते हैं, इसप्रकार यह जरूरी नहीं कि हमारे इस जन्म में किए गए कृत्यों का फल निश्चित तौर पर अगले जन्म में ही मिलेगा, इस जीवन में नहीं। यह एक गम्भीर व विस्तृत विषय है, जिस पर पृथक् चर्चा अभीष्ट है।

हम अपना वर्तमान जीवन शांति व सदाचार पूर्वक, पुण्य कार्य करते हुए बितायें तो हम स्वयं यह सुनिश्चित कर सकते हैं कि हमारी मृत्यु भी मंगलमय होगी व अगला जीवन भी। अब भी अगर हमारे अन्दर मृत्यु या भावी जीवन के बारे में भय व आशंका विद्यमान रहती है तो हमें समझना चाहिए कि हमारी वर्तमान परिणति व क्रियाकलाप इतने विकृत हैं कि हम अपने स्वर्णिम भविष्य के लिए आशान्वित ही नहीं हैं या यूँ कहिए कि हम यह मानते हैं कि ऐसी परिणति के चलते हमारा भविष्य निश्चित तौर पर अन्धकारमय ही है। यदि ऐसा है तो आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने वर्तमान को इसप्रकार डिजाइन करें कि उसमें से एक सलोने स्वर्णिम भविष्य का उदय हो, हमारा वह वर्तमान जीवन ऐसा हो कि जो हमारे अनन्त भविष्य को उज्ज्वल बनाये, ऐसा आदर्श जीवन कैसा होना चाहिए ? इसकी चर्चा हम विस्तारपूर्वक एक अन्य कृति में करेंगे।

मृत्यु को महोत्सव बनाने के लिए जरूरी है कि हमारा सम्पूर्ण जीवन ही महोत्सवमय हो। जिनका जीवन महोत्सव होता है, उनकी

मृत्यु महोत्सव होती है, उनका पुनर्जन्म महोत्सव होता है। उनका जन्म कल्याणस्वरूप होता है, स्व व पर का कल्याण करनेवाला होता है।

जन्म अपने आप में कोई महान वस्तु नहीं है और इसलिए जन्म को कल्याणस्वरूप मानना व कहना उचित नहीं है; तथापि **जिनका जीवन कल्याणस्वरूप होता है, उनके जन्म को तो कल्याणस्वरूप कहा ही जायेगा, माना ही जायेगा।**

वर्तमान में हमारी जीवन शैली में मात्र वर्तमान की ही मुख्यता है। दिन-रात हमारे चिंतन का विषय मात्र यह वर्तमान मानवजीवन ही है। इसलिए हमारे क्रिया-कलापों में इस जीवन के बाद के जीवन के लिए कोई परवाह या कोई तैयारी की झलक दिखाई नहीं देती है।

यदि हम अपने चिन्तन के दायरे को विस्तार देकर अनन्त काल तक रहने वाले इस भगवान आत्मा के बारे में सोचना प्रारंभ करेंगे तो हमारी सोच में, हमारी रीति-नीति में, हमारी वर्तमान जीवनशैली में; मूलभूत परिवर्तन हो जायेगा और तब हम मृत्यु के प्रति भयभीत भी न रहेंगे, मात्र कपड़े बदलने जैसी सामान्य क्रिया की तरह इस देहपरिवर्तन की क्रिया को भी सहज ही स्वीकार कर लेंगे।

अब तक हमने जो चर्चा की, वह एक मिली-जुली चर्चा थी, जिसमें दोनों पक्ष शामिल थे, एक स्वयं मृत्यु को प्राप्त व्यक्ति व दूसरा उसका परिकर। (परिवार, रिश्तेदार, मित्रादिक, समाज व देश) अब हम दोनों पक्षों को अलग करके पृथक्-पृथक् उन पर पड़नेवाले प्रभावों की चर्चा करें।

सचमुच मरण को प्राप्त व्यक्ति को तो मरण के प्रति चिन्तित होने का कोई कारण ही नहीं है; क्योंकि आज अपने इस वर्तमान जीवन के सन्दर्भ में चिन्तायें करने के लिए अनेकों प्रबल कारण व परिस्थितियाँ मौजूद हैं; पर मृत्यु होने के बाद वह न तो उन परिस्थितियों का कर्ता रहेगा और न उपभोक्ता; और तो और ज्ञाता भी नहीं रहेगा, यानि कि न तो कुछ करने की उसकी कोई जिम्मेदारी रहेगी और न ही क्षमता, न ही वह उसके

परिणामों से किसी भी प्रकार प्रभावित होगा और उसे उन घटनाओं की कोई जानकारी भी न मिल पायेगी; तब उन घटनाओं के कारण सुखी-दुखी होने का कोई अवसर उसे मिलेगा ही नहीं और इसप्रकार हम कह सकते हैं कि मृत्यु तो हमें वर्तमान परिस्थितियों से उबार लेने के लिए मिला एक स्वर्ण अवसर है, उन परिस्थितियों से उबरने का माध्यम।

जिन पर नियंत्रण प्राप्त करना हमारी सामर्थ्य में था, उन पर तो हम नियंत्रण प्राप्त कर ही चुके होते हैं; पर जीते जी चाहकर भी हम जिन परिस्थितियों से व दायित्वों से मुक्त नहीं हो पाते, मृत्यु हमें उन सभी से मुक्त करके नये सिरे से एक बार फिर एक नई पारी की शुरूआत करने का अवसर प्रदान करती है, तब मृत्यु को प्राप्त व्यक्ति क्योंकर मृत्यु से भयभीत हो?

मृत्यु को प्राप्त व्यक्ति के सम्बन्धी अवश्य इस मृत्यु की घटना से निर्मित परिस्थितियों के उपभोक्ता बनते हैं; परन्तु यदि भावनात्मक धरातल से ऊपर उठकर विचार किया जावे तो क्या उनके लिए अपने अनेकों प्रियजनों में से एक प्रियजन की मृत्यु की घटना, जीवन में प्रतिदिन व प्रतिपल ही घटित होनेवाली अनेकों झिंझोड़ देनेवाली घटनाओं जैसी ही, उनमें से एक छोटीसी घटना मात्र नहीं है। प्रतिदिन ही तो विश्व, देश व समाज को हिला कर रख देनेवाली अनेकों घटनायें घटित होती ही रहती हैं व हम सभी उनका एक हिस्सा होने के नाते उनसे प्रभावित होते रहते हैं।

स्काईलैब गिरने की घटना या वर्ल्ड ट्रेड सेन्टर पर हमले की घटना से यूँ तो सीधे-सीधे हमारा क्या रिश्ता है, या कि सार्स और मेडकाऊ की बीमारी भी हमें किस कोण से स्पर्श करती है, पर क्या ये घटनायें हमें अन्दर तक हिलाकर नहीं रख देती हैं, भयभीत नहीं कर देती हैं, खेदखिन्न नहीं कर देतीं हैं, क्या व्यापार के क्षेत्र की विश्वव्यापी मंदी हमें परेशान नहीं बनाये रखती, या पाकिस्तान की करतूतें व अमेरिका का रुख हमें चिन्तित नहीं करता है ? हालांकि हम सीधे-सीधे इन सबसे प्रभावित

(Effected) होनेवालों की श्रेणी में नहीं आते हैं, तब भी। और फिर व्यापार के उतार-चढ़ाव, अपने व सम्बन्धियों के स्वास्थ्य में उठाव-गिराव, अपने जीवन में होनेवाली, चोरी, डकैती, हिंसा, हत्या की घटनायें, व्यापार की लाभ-हानि, सरकारी कानूनों की समस्यायें, समाज में व्याप्त शोषण व भ्रष्टाचार, अन्याय, अनिष्ट संयोग आदि निरन्तर हमें परेशान नहीं किए रहते हैं ?

क्या हमारे बहुत बड़े सामाजिक सम्पर्क में, या कि विस्तृत सम्बन्धी परिकर में, या स्वयं अपने विशाल परिवार में ही सदा ही जन्म-मरण जैसी घटनायें घटित नहीं होती रहती हैं ? पर जीवन भर, जीवन में आते रहनेवाले झंझावातों के बीच अब ये घटनायें, इन जैसी अनेकों घटनाओं जैसी ही, अनेकों में से एक घटना मात्र बनकर नहीं रह गई हैं ?

अरे ! उन जैसी भी कहाँ ? जब अनेकों ज्वलंत समस्यायें जीवंत मुँह बाये खड़ी हों, तब इस एक मरी हुई घटना पर ध्यान भी देने का अवकाश भी किसके पास रहता है ?

एक दुर्घटना में घर-परिवार के ही एक दो सदस्यों की मृत्यु हो गई हो व कुछ अन्य मृत्यु से संघर्ष कर रहे हों, तब कोई मरे हुए को रोये या बचे हुओं को सम्भाले ? यह तो अत्यन्त निकट बन्धु-बान्धवों का हाल है, मित्रों की तो बात ही क्या; उन्हें तो और भी बहुत कुछ है करने को। किसी को श्मशान से ही सीधे किसी की वर्थडे पार्टी में जाना है और उसके बाद किसी की शादी में; क्योंकि सामाजिक जीवन में इन सभी का महत्त्व भी तो कुछ कम नहीं है; सभी व्यवहार तो निभाने पड़ते हैं, और फिर किसी की शादी भी तो कोई रोज-रोज नहीं होती है न।

आप कह सकते हैं कि 'आप तो दूर के लोगों की बात कर रहे हैं, पर सर्वाधिक प्रभावित तो भाई-बन्धु, माता-पिता व पत्नी-बच्चे होते हैं, और हमें तो उनकी चिन्ता है, उन बेचारों का हमारे बिना क्या हाल होगा, वे तो हमारे बिना रह ही न सकेंगे।'

'दिल बहलाने को गालिब ये ख्याल अच्छा है।' अन्यथा हकीकत तो यह है कि वे सभी तो इस दिन के लिए, इस घटना के लिए कब से तैयार बैठे हैं।

क्यों, विश्वास नहीं होता न ! अभी हो जावेगा।

पुत्र तो आपको निर्भार करने के लिए व तिजोरी की चाबी सहित सब जिम्मेदारियों को अपने कन्धों पर उठा लेने के लिए न जाने कब से लालायित है ही, पत्नी भी यूं तो कहने को तो 'वैधव्य' वाले जीवन की कल्पना से ही सिहर उठती है व सुहागिन ही मरना चाहती है; तथापि यदा-कदा अनजाने ही उसका भी अभिप्राय प्रकट हो ही जाता है, जब संसार के यथार्थ का वर्णन करती हुई, समय रहते अपने पक्ष में वसीयत करवा लेने के लिए अपनी समस्त कलाओं का उपयोग करते हुए वह कहती है कि 'जीवन का क्या भरोसा? जाने कब क्या हो जावे ? तब मेरा क्या होगा?'

इसप्रकार वह भी आपके बिना जीने के लिए तैयार है।

अब भी क्या आप न मानेंगे कि आपके चारों ओर आपके अपने लोग किसतरह आपके बिना जीवन जीने की तैयारियों में किस कदर व्यस्त रहते हैं। यह तो मृत्युपूर्व की उन तैयारियों की बात है, जो जीवन भर ही चलती रहती हैं, अब मृत्यु के बाद की भी कुछ चर्चा अप्रासंगिक नहीं होगी।

मृत्यु की क्रिया सानन्द सम्पन्न होते ही आसपास का माहौल आश्चर्य-जनक रूप से युद्धस्तर पर यकायक सक्रिय हो उठता है और सभी लोग अपने-अपने योग्य मोर्चे सम्भाल लेते हैं, कोई क्रियाकर्म की व्यवस्था में जुट जाता है, कोई सम्बन्धियों को सूचित करने में, कोई डॉक्टर के पास दौड़ता है और कोई वकील के पास। कोई तिजोरी सम्भालने की चिन्ता करने लगता है और कोई वसीयत ढूंढने की। मृत्यु की सूचना पाकर लोग भाव विह्वल हों न हों, पर यह जानना उनकी प्रथम प्राथमिकता होती है

कि यह शुभ कार्य किस विधि से सम्पन्न हुआ; और फिर दूसरे ही दिन, तिये की बैठक के बाद व्यावसाय के लिए जाने तक विभिन्न व्यवस्थाओं का एक निरन्तर सिलसिला निकटस्थ लोगों को इस कदर व्यस्त रखता है कि वर्तमान की सम्हाल में व्यस्त वे बेचारे अभी-अभी 'भूतपूर्व' हुए उस प्रियजन का स्मरण ही नहीं कर पाते।

एक विचार हमारे मस्तिष्क में आ सकता है कि यह तो हुई उन लोगों की बात जो यथासमय, यथाविधि मरण को प्राप्त होते हैं; पर असमय ही दुर्घटनापूर्वक मृत्यु को प्राप्त परिजनों का विरह तो उन पर निर्भर लोगों को झकझोर ही डालता है न ? पर नहीं ! कुछ भी तो नहीं बिगड़ता, बहुधा तो उल्टा ही होता है, धर्मपत्नी जो जीवनभर अबला बनी रही थी; यकायक 'प्रबल' हो उठती है व जीवन संघर्ष में अपने आपको बनाये रखने के उपक्रम में जुट जाती है और वह बच्चे जो सम्भवतः पिता की छत्रछाया में आधी उम्र बीत जाने तक भी गैर जिम्मेदार बने रहते, इतनी तेजी से समाज के, परिवार के एक सक्षम और जिम्मेदार सदस्य बन जाते हैं, जो सामान्य परिस्थितियों में नामुमकिन ही है।

मरण यदि राजा का हो, तो अगले ही क्षण एक ओर राजगद्दी के लिए संघर्ष होने लगता है व दूसरी ओर राजतिलक की तैयारियाँ। मृत्यु यदि रंक की हो तो उसके परिजन चिता की व्यवस्था से उबरते ही चूल्हे की व्यवस्था में व्यस्त हो जाते हैं, अवकाश किसी को नहीं।

अवसान यदि योगी का होता है तो उसके शिष्य अगले ही पल आत्मा में जाने को तत्पर रहते हैं और महाप्रयाण यदि भोगी का हो तो उसके उत्तराधिकारी भोगों के लिए तत्पर दिखते हैं।

इसप्रकार हम पाते हैं कि बिना विचारे भले ही संस्कारवश हम मृत्यु से भयभीत बने रहें। पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि, **मृत्यु भी जीवन के अन्य अनेकों घटनाक्रमों के समान ही एक सामान्य घटना है, जिसे उतनी ही तटस्थतापूर्वक स्वीकार किया जाना चाहिए, जितना**

किसी अन्य घटना को।

हम चाहें या न चाहें; जन्म-मरण को स्वीकार करना हमारी नियति है, मजबूरी है; जबतक कि हम जन्म-मरण का अभाव न कर लें। इस सबके बावजूद मृत्यु को टाल सकने की क्षमता प्राप्त करने के दिवास्वप्न से शायद ही कोई अछूता रहा होगा। जीवन के किसी न किसी मोड़ पर हम सभी के मन में यह लालसा उत्पन्न अवश्य हुई होगी।

यद्यपि मृत्यु को टालना व मेटना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है; तथापि यदि ऐसा हो सके तो वह किस परिस्थिति को जन्म देगी – यह देखना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

हममें से अधिकतर लोग अपने समस्त दायित्वों का निर्वाह कर चुकने के बाद, अपना सक्रिय जीवन खत्म हो चुकने के बाद भी अनेकों वर्षों तक जीवित रहते हैं और हम सभी बड़ी अच्छी तरह जानते हैं कि वह जीवन कैसा होता है।

जब हम सक्रिय जीवन से अवकाश ग्रहण करते हैं, तब प्रारम्भ में तो एक तीव्र जिजीविषा जन्म लेती है कि 'अब तक तो दायित्वों के निर्वाह में लगा रहा, पर अब मैं जीवन जिऊँगा, भरपूर; अपने तरीके से' पर अन्तत: जीवन की ओर हमारी यह दौड़, मृगमरीचिका ही साबित होती है, वह तृप्ति को नहीं तृषा को ही जन्म देती है।

कुछ ही समय में हमें अहसास होने लगता है कि हम अप्रासंगिक (Irrelevant) **हो चले हैं, अब हमारे बने रहने की कोई उपयोगिता नहीं रह गई है, अब किसी को हमारी आवश्यकता नहीं रही है और अनुभव यह कहता है कि जैसे-जैसे यह जीवनकाल लम्बा होता जाता है, हम अप्रसांगिक से अवांक्षित** (Unwanted) **होने लगते हैं। पहले हम मात्र अनुपयोगी** (Useless) **हुए थे, अब बोझ बनने लगते हैं और पहले हमारी मौत अपेक्षित** (Expected) **हुआ करती थी, अब चाहत** (desire) **बनने लगती है।**

अब हम घर-परिवार, समाज व देश के लिए सम्पदा न रहकर दायित्व (Liability) **बनने लगते हैं, क्योंकि अब हम उत्पादक** (Producer) **नहीं रहते, मात्र उपभोक्ता** (Consumer) **बन जाते हैं। उपभोक्ता भी मात्र वस्तुओं के नहीं, समय व ध्यान** (Attaintion) **के भी, और किसके पास समय है जो ऐसे अनुपयोगी लोगों के पीछे बर्बाद कर सके, और फिर उस श्रम का कोई भी रिटर्न भी तो नहीं है।**

अब अगर इसप्रकार के जीवन का यह क्रम थोड़ा और लम्बा खिंच जावे तो हमारी मौत जो अबतक 'अनपेक्षित' से 'अपेक्षित' और फिर उसके बाद 'चाहत' बन चुकी थी, अब 'मुराद' बनने लगती है, साध बन जाती है व यदा-कदा प्रसंगवश अपने ही परिजनों के बीच वाणी में भी प्रकट होने लगती है। 'न मरे न माँचा छोड़े' इसीतरह के अन्य कई मुहावरे हमने समय-समय पर सुने ही होंगे।

इसप्रकार अब हम मर-मर कर जीने लगते हैं और इस पर भी अगर मौत हम पर अब भी कृपावंत नहीं हुई तो अब हमारी मृत्यु एक आवश्यकता बन जाती है, एक ज्वलंत आवश्यकता और यह ज्वलंत आवश्यकता की आग मात्र एक ओर नहीं रहती, दोनों ओर प्रज्वलित होती है, अब हम स्वयं भी मरना चाहते हैं व अन्य लोग भी हमसे ऐसी ही अपेक्षा रखते हैं।

यद्यपि ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता गया, त्यों-त्यों हम सभी अपने-अपने मनोभावों को छुपाने की कला में पारंगत होते चले गए; तथापि हमारी इसतरह की भावनाओं की अभिव्यक्ति के प्रसंग उपस्थित होते ही रहते हैं, और तो और कालान्तर में परिजन ही नहीं मित्र व समाज के लोग भी इसतरह की भावनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करने लग जाते हैं; आखिर उन्हें भी तो देश व समाज की चिन्ता है, बढ़ती हुई आबादी की व संसाधनों के अभाव की फिक्र है।

कभी-कभी तो अनचाहे, अनजाने, अनायास ही कुछ इसप्रकार के

हास्यास्पद प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं, जिन पर हमारा कोई नियंत्रण ही नहीं रहता। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि किसी के अत्यन्त निकट परिजन, यथा – पुत्र-पुत्री, भाई-बहिन इत्यादि कहीं दूर देश में रहते हों व अपने माता-पिता आदि की अत्यंत गम्भीर, मरणान्तक दशा का समाचार सुनकर दौड़े-दौड़े चले आये हों तो उनकी मानसिकता का विश्लेषण प्रमोदकारी हो सकता है।

वे सज्जन तबियत की गम्भीरता के समाचार सुनकर अपने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कामों को बीच में ही अपूर्ण छोड़कर बिना पर्याप्त तैयारी के चले तो आए, पर अब उन्हें वापिस लौटने की जल्दबाजी तो बनी ही रहती है; क्योंकि उनका लौटना अत्यन्त आवश्यक है भी।

मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि किन परिस्थितियों में अब वे वापिस लौट सकते हैं ?

एक तो यदि मरीज पुनः स्वस्थ हो जावे और दूसरी, मरीज की मृत्यु हो जाने पर आवश्यक जिम्मेदारियों के निर्वाह के बाद वापिस लौटा जा सकता है।

अब यदि हम तटस्थ व गम्भीर होकर निरपेक्ष विचार करें, अपनी मनोदशा का विश्लेषण करें तो क्या निष्कर्ष निकलेगा ?

आगन्तुक किस अपेक्षा के साथ दौड़ा चला आया है ?

मरीज के स्वस्थ्य होने की कामना के साथ या मृत्यु की अपेक्षा के साथ ?

हालांकि हम आसानी से अपनी इस मनोदशा को स्वीकार नहीं करेंगे, पर अधिकतर मामलों में सच्चाई तो यही होती है कि आगन्तुक मृत्यु की आशा लेकर ही आते हैं; क्योंकि जबतक पुनः स्वस्थ्य होने की आशा बनी रहती है, तबतक तो वह दिन खींचता ही रहता है कि न जाना पड़े तो अच्छा हो, पर जब जीवन की आशा खत्म हो जाती है व मृत्यु निश्चित दिखाई पड़ने लगती है, तभी दौड़ता है।

उक्त परिपेक्ष्य में अब उसे लौटने की जल्दी है, इसका अव्यक्त अर्थ क्या है ? यही न, कि कब मरीज की शीघ्र मृत्यु हो व वह अपने अनुष्ठान सम्पन्न कर जल्दी से जल्दी लौट सके।

इस क्रम में ज्यों-ज्यों दिन खिंचते जाते हैं, सभी की व्यग्रता बढती जाती है।

मैं पूछता हूँ कि किस बात की व्यग्रता है यह ? आखिर आप चाहते क्या हैं ? क्या मरीज की शीघ्र मौत ?

अन्तत: यदि कई दिनों तक कुछ भी होता न दिखे तो फिर निराश होकर लम्बी सांसे लेता हुआ वह बोल उठता है कि 'अब क्या करूँ, सोचता हूँ कुछ दिनों के लिए घर हो ही आऊँ, यदि और कोई डेवलपमेन्ट हो तो बताना।'

अरे भई ! किस बात का अफसोस कर रहा है? अपने सम्बन्धी के न मरने का ? और अब कौन-सा डेवलपमेन्ट चाहता है ? मृत्यु का समाचार ही न ?

और अन्तत: एक दिन वह लौट ही जाता है।

मान लीजिए एक बार फिर ऐसा ही प्रसंग उपस्थित हो जावे और वह फिर दौड़ा चला आवे, तब भी मृत्यु न हो और वह फिर लौट जावे।

तीसरी बार फिर इसीप्रकार का प्रसंग उपस्थित होने पर अनायास ही उसके मुख से निकल जाता है 'कितनी बार दौड़-दौड़कर आऊँ ? कुछ होता जाता तो है नहीं।'

अब कोई उस भले आदमी से पूछे कि आखिर तू क्या चाहता है, क्या 'होना-जाना' चाहता है ? तुझे क्या इष्ट है ? अपने सम्बन्धी का स्वास्थ्य या उसकी मौत ? पर यदि मरीज स्वस्थ हो जाता है, तब तो इसे कुछ हुआ सा ही नहीं लगता, अपनी दौड़-भाग व्यर्थ दिखाई देने लगती है, उसका अफसोस होने लगता है। मानो इसकी प्रासंगिकता मात्र मृत्यु की स्थिति में ही हो, जीवन में तो इसकी प्रामाणिकता है ही नहीं।

क्या उक्त अवस्था में हमारी सोच इसप्रकार की नहीं होनी चाहिए कि 'अरे ! मैंने यह क्या किया ? इन्हें इसप्रकार अकेला छोड़ दिया, हमेशा के लिए ? यदि कभी कुछ हो जाता तो क्या होता ? मैं तो कभी इनसे मिल भी न पाता, इनकी सेवा ही न कर पाता, अपने कर्तव्य की पूर्ति से वंचित ही रह जाता। अब सौभाग्य से यह अवसर मेरे हाथ आया है तो अब तो मैं इन्हीं के साथ रहकर इनका सान्निध्य लाभ लूँगा व इनकी सेवा करके अपना ऋण उतारूँगा।'

क्या कोई ऐसा करता है ?

क्या कोई ऐसा कर पाता है ?

नहीं ! ऐसा हो ही नहीं पाता।

लोग कहेंगे, क्या करूँ, परिस्थितियाँ ही ऐसी हैं; पर मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ।

आज की परिस्थिति तो आज निर्मित हुई है, पर तू तो वर्षों पहिले उन्हें छोड़कर परदेश चला गया था। तब क्या सोचकर गया था ? अस्थायी तौर पर तो गया नहीं था, स्थायी तौर पर हो गया था न ? क्या इसके मायने स्पष्ट नहीं हैं कि अब तूने मृत्यु तक के लिए उन्हें अकेला छोड़ दिया है, अब तुझे उनकी आवश्यकता नहीं रही। और अब, जब तूने उहें छोड़ ही दिया है तो तुझे क्या फर्क पड़ता है ? 'चाहे लाख वर्षों तक जीवें या मृत्यु आज ही आ जावे' तेरे लिए तो वे मृतसम ही हो गए हैं न ?

हममें से कोई भी इन परिस्थितियों का अपवाद नहीं है। सभी की हालत ऐसी ही है। हम सभी इन सभी बातों के अर्थ बखूबी समझते भी हैं, पर हम इनकी चर्चा नहीं करते; क्योंकि हम इस सच से मुँह मोड़ना चाहते हैं।

इन हालातों में अब मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि आखिर अब आप क्यों जीना चाहते हैं, किसके लिए जीना चाहते हैं ?

स्वयं अपने लिए ? नहीं ! कृषकाय व विपरीत परिस्थितियों में इस

जीवन में रखा ही क्या है, और यदि परिजनों के लिए, तो उनकी स्थिति तो सामने है, उन्हें तो आपकी आवश्यकता ही नहीं।

अब भी क्या आप मृत्यु को टालना या अमर होना पसन्द करेंगे?

आप कह सकते हैं कि आप तो असमर्थ जीवन का वर्णन करके हमें जीवन से डराना चाहते हैं। हम कोई असमर्थ व अस्वस्थ्य होकर थोड़े ही जीना चाहते हैं। हम तो स्वस्थ्य, सबल व सक्रिय जीवन जीना चाहते हैं।

सच ही तो कहा है। 'मन के लड्डू फीके क्यों'

यदि चाहत ही करनी है तो अपूर्ण क्यों ?

आइये हम इस पर भी विचार कर लें।

यदि इसप्रकार सबल, स्वस्थ व सक्रिय बने रहकर सभी के लिए अमर होना सम्भव हो तो इस पृथ्वी की जनसंख्या का क्या होगा ?

तब भी क्या यह जगत रहने जैसा स्थान बना रह सकेगा ? तब भी क्या सभी के लिए सब कुछ उपलब्ध रह सकेगा ? जीवन संघर्ष का क्या होगा ?

अभी जब मृत्यु का प्रावधान है, तब जनसंख्या इतनी बड़ी समस्या बनी हुई है कि माता-पिता स्वयं अपनी संतान को जीवित रखना नहीं चाहते, तब फिर अमरता की स्थिति में क्या होगा ?

आप शायद मेरी इस बात से सहमत न हों। अरे मात्र असहमत ही नहीं, वरन् शायद आपको सख्त एतराज भी हो सकता है मेरे इस कथन पर कि माता-पिता स्वयं अपनी संतान को जीवित रखना नहीं चाहते। पर मैं आपसे पूछता हूँ कि **आखिर गर्भपात क्या है ? क्या अपने ही शिशु की हत्या नहीं है? उस शिशु की, जो अपनी रक्षा के लिए हम पर ही निर्भर है। अरे गर्भपात की बात जाने दीजिए, क्या अपनी अधिक संतानों का अफसोस होना, उनके होने की अनिच्छा को नहीं दर्शाता? न सही अफसोस, पर यदि हमें शर्म भी आती है, उनके होने पर; क्या यह हमारी उनके प्रति अनिच्छा नहीं है ? और क्या उनके न हो सकने**

के उपाय करना भी हमारी उनके प्रति अनिच्छा नहीं है ?

मेरे उक्त विश्लेषण का मतलब परिवार नियोजन कार्यक्रम से मेरी सहमति या असहमति नहीं है। यह तो शुद्ध बौद्धिक विश्लेषण है, हमारी वृत्ति का, हमारे मनोभावों का।

हम तनिक विषयान्तर हो गए।

तात्पर्य यह है कि **वर्तमान जीवन की अमरता का लक्ष्य हासिल करते ही हमें रुक जाना होगा, जहाँ के तहाँ। फिर नवसृजन के लिए अवकाश ही नहीं रहेगा।** क्या हमें यह अभीष्ट है ?

अब यह मत कहियेगा कि अमरत्व की यह परिकल्पना आपने मात्र स्वयं अपने लिए की है, अन्य किसी के लिए नहीं; क्योंकि यह चाहत रखने वाले आप अकेले ही नहीं हैं, सभी तो हैं।

यदि आप यह उपलब्ध कर सकते हैं तो कोई अन्य क्यों नहीं ? फिर आप भी स्वयं ही यह सुविधा मात्र अपने लिए उपलब्ध नहीं करना चाहेंगे। न सही अन्यों के लिए, पर अपनों के लिए तो चाहेंगे ही; क्योंकि अकेले-अकेले तो जीने में भी क्या मजा है ?

अरे हम तो वह हैं कि यदि १०-२० लोग साथ मरने को तैयार हो जावें तो हमें मरने से भी एतराज नहीं और अकेले तो हम जीना भी नहीं चाहते।

जब आप अपनों को अमरत्व बांटने निकलेंगे तो अपनत्व का यह दायरा द्रौपदी के चीर की भाँति इसतरह बढता चला जावेगा कि शायद अन्तत: 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा पर पहुँचकर ही थमे, यानि कि सारी सृष्टि ही अपनों में शामिल हो जावेगी।

आपकी समस्त परिकल्पनाओं को नकारता हुआ मैं आपको अत्यन्त निष्ठुर प्रतीत हो रहा होऊँगा, पर निराश होने की आवश्यकता नहीं।

मेरे पास इस समस्या का एक इतना उत्तम समाधान उपलब्ध है, जिसमें मृत्यु से होनेवाली हानियों से तो बचा जा सकता है व लाभ बनाये

रखे जा सकते हैं।

होने को तो यह भी उतना ही असम्भव है, पर बात चाहत की चल रही है, कल्पना के आधार पर चल रही है तो हम कल्पना के धरातल पर ही समस्त विकल्पों को क्यों न आजमा लें; यदि वे सभी तर्क व व्यावहारिकता की कसौटी पर खरे ही नहीं उतरते हैं तो हम स्वयं उस विकल्प को त्याग देंगे।

उक्त समस्या का मेरा समाधान है – पुनर्जन्म। मृत्यु के पश्चात् मनुष्यगति में ही पुनर्जन्म हो जावे व पुनर्जन्म की स्मृति भी प्रकट हो जावे, तब दोनों काम हो जाते हैं, जीर्ण-शीर्ण देह मिटकर नई देह मिल जाती है; फिर शैशव, बचपन, यौवन, बल, स्वास्थ्य सबकुछ मिल जाता है और स्मृति के कारण पुराना परिकर, बन्धु-बान्धव, परिवार व समाज भी मिल जाता है। ठीक है न?

पर नहीं। यह तो अत्यन्त ही अनर्थकारक साबित होगा, यह तो अनेकों ऐसी विसंगतियों को जन्म देगा; जिनका व्यावहारिक समाधान सम्भव ही नहीं है।

सर्वप्रथम तो निष्ठा का सवाल खड़ा होगा। उस व्यक्ति की निष्ठा किसके प्रति होगी, किस परिवार के प्रति होगी, किस रिश्ते के प्रति होगी? क्योंकि सभी कुछ तो डबल हो जावेगा, सारे ही रिश्ते दुहरे (डबल) हो जायेंगे, माता-पिता, भाई-बहिन, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री।

इन रिश्तों में वह किस रिश्ते के प्रति निष्ठावान रहे ? क्योंकि दोनों के प्रति एक जैसी निष्ठा का निर्वाह तो सम्भव है नहीं और कुछ रिश्ते तो होते ही एकनिष्ठ हैं; जैसे पति-पत्नी। यूँ तो सभी रिश्ते एकनिष्ठ ही होते हैं, चाहे पिता-पुत्र का हो या भाई-भाई का। किसी के पिता को अपना पिता कह देना या पुत्र को अपना पुत्र कह देना और बात है व एक रिश्ते के तौर पर उसका निर्वाह दूसरी बात। प्रत्येक रिश्ते के साथ उससे जुड़े अधिकार एवं कर्तव्यों की एक लम्बी श्रृंखला होती है और दो स्थानों पर उनका

निर्वाह व्यावहारिक तौर पर सम्भव ही नहीं है।

यदि हम विस्तार में जायें तो इन विसंगतियों को रेखांकित करते-करते उम्र बीत जावे; पर हम विषयान्तर नहीं होना चाहते, फिर भी एकाध उदाहरण की चर्चा असंगत नहीं होगी।

मान लीजिए एक ८० वर्ष का वृद्ध व्यक्ति मरकर पड़ौसी के घर में जन्मा। इस स्थिति से पैदा होने वाली विसंगतियों की जरा कल्पना करें –

कल तक वह ८० वर्ष का वृद्ध था, तदनुसार ही सम्मान पाता था। लोग उसे दादाजी, पिताजी, दाऊजी, बाबूजी, सेठ साहब आदि नामों से पुकारा करते थे; अब मैं पूँछना चाहता हूँ कि उसे किसप्रकार के संबोधन से पुकारा जाये, उसके साथ किसप्रकार का व्यवहार किया जाये, वृद्धवत या बालकवत ? उसे अपने लिए कौन सा व कैसा नाम पसंद आएगा ? वही ८० साल पुराना पूर्व जन्म का नाम 'छदामीलाल' या आज का आधुनिक नाम 'किन्जल'। वह किसप्रकार के कपड़े पहिने – वही धोती-कुर्त्ता और पगड़ी या फिर आधुनिक जींस।

कल का पीएच.डी. डिग्री धारी आज स्कूल जाये या न जाये। बच्चों के साथ घर-घर का खेल खेले या न खेले; अब वह टॉफी, चॉकलेट खाना पसंद करेगा या डाबर का च्वयनप्राश और हवाबाण हरड़े ?

अब उसकी पूर्व जन्म की बहुयें उसके समक्ष मर्यादापूर्वक पर्दा करें या गोद में लेकर खिलायें ?

इसप्रकार क्या-क्या विसंगतियाँ पैदा होंगी ? उनकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। उसका कुल गोत्र क्या होगा, पुराने जन्म की सम्पत्ति पर उसका अधिकार होगा या नहीं, क्या वह अपने पूर्व जन्म के परिवार की किसी कन्या से विवाह कर सकता है ? उसके पूर्व जन्म के मित्रों व शत्रुओं के प्रति उसका व्यवहार क्या हो ?

अरे बात सिर्फ इसकी ओर से ही तो नहीं हो सकती है न। यदि पूर्व जन्म में कोई कर्जा लिया था व चुका नहीं पाया था; अब यदि वह पैसा

वापिस माँगने लगे तो क्या होगा? यदि पूर्व जन्म में कोई आपराधिक केस चल रहा होगा तो उसका क्या होगा?

विसंगतियाँ कोई कम नहीं हैं। यदि पूर्व जन्म में यह हिन्दु था और अब मुस्लिम के घर पैदा हो गया तो, पहिले का हिन्दुस्तानी आज पाकिस्तान में पैदा हो गया तो, पूर्व जन्म का पुरुष आज स्त्री के रूप में पैदा हुआ तो क्या होगा ? इसीप्रकार गरीब अमीर हो सकता है और अमीर गरीब, उच्च कुल वाला निम्न कुल में जा सकता है और निम्न कुल वाला उच्च कुल में।

प्रश्न यह उठता है कि इन हालातों में कौन सा अधिकार मान्य किया जावे, कौन सा नहीं? कौन सा कर्तव्य मान्य किया जावे, कौन सा नहीं।

इसप्रकार हम पाते हैं कि पिछले जीवन की स्मृति नए जीवन में मात्र विसंगतियों को ही जन्म देती हैं; अतः इसके सम्बन्ध में अज्ञान ही उचित व हितकारी प्रतीत होता है।

जीवन एवं मृत्यु के सन्दर्भ में जिन तथ्यों की चर्चा अभी तक हमने की है; ऐसा नहीं है कि हम उन बातों को अबतक जानते-समझते नहीं थे; इसलिए हम मृत्यु के प्रति भयभीत थे, और अब इन तथ्यों को समझने के बाद हमारा भय दूर हो जावेगा।

दरअसल **मृत्यु के प्रति हमारी हिचक का मूल कारण है, तुरन्त चल पड़ने की हमारी तैयारी का न होना है।**

हम सभी की जीवन प्रणाली व कार्य प्रणाली ऐसी है कि दिन-रात अनेक कार्यों को सम्पन्न करते रहने के बावजूद हमारे अनेक कार्य हमेशा ही अधूरे पड़े रहते हैं और यह सब अनायास ही नहीं होता; वरन् यह हमारी सोची-समझी रीति-नीति है कि एक कार्य सम्पन्न हो, उसके पहिले ही दूसरे की नींव रख दें, ताकि कहीं रिक्तता न आ जावे, हमें फालतू न बैठना पड़े, हमें अवकाश न मिल जावे, और इसप्रकार हम हमेशा अत्यन्त व्यस्त होने के, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के अहसास के

साथ जीना चाहते हैं।

इसप्रकार जब हमेशा ही अनेकों महत्त्वपूर्ण कार्य लम्बित पड़े हों, **तब हमें मरने की फुरसत कैसे** मिल सकती है ? अरे मरने की तो **क्या** मृत्यु के बारे में सोचने का भी अवकाश कैसे मिल सकता है ?

यूं भी हम मृत्यु के बारे में सोचना ही नहीं चाहते , हमें भय लगता है कि कहीं ऐसा न हो कि हम मृत्यु को याद करें और मृत्यु हमको धर दबोचे। शायद हम सोचते हैं कि हम मृत्यु को याद नहीं करेंगे तो मृत्यु हमें भूल ही जायेगी, कभी हमारे पास आयेगी ही नहीं।

नहीं ! ऐसा भी नहीं है; पर बस, यूं ही हमें मृत्यु पसन्द ही नहीं; उसके बारे में सोचना पसन्द नहीं, उसके बारे में बात करना पसन्द नहीं।

अपनी कमजोरियों को छुपाने में हम इतने माहिर हैं कि उन्हें अच्छे-अच्छे नाम दे डालते हैं, मृत्यु के प्रति अपनी इस अनिच्छा व भय को भी हमने एक सुन्दर सा नाम दे डाला है – Positive Attitude (सकारात्मक रवैया) । मृत्यु के बारे में सोचने व बात करने वाले व्यक्ति को हम Negative Attitude वाला आदमी कहते हैं। वक्त बेवक्त हम यह घोषणा भी करते फिरते हैं कि मैं मृत्यु से नहीं डरता, पर **सचमुच तो मृत्यु के प्रति हमारे अन्दर गहरे बैठा भय ही पुकार-पुकार कर कहता है कि मैं मृत्यु से नहीं डरता।**

हमारी चर्चा तो यह चल रही थी कि हम मरना इसलिए नहीं चाहते हैं कि हमारे अधूरे रह गये कामों का क्या होगा ? हमें लगता है कि अनर्थ ही हो जायेगा मेरे बिना; क्योंकि कितने महत्त्वपूर्ण काम हैं निपटाने को। मेरे कंधों पर कितनी बड़ी-बड़ी जिम्मेदारियाँ हैं। आखिर अभी मैं मर कैसे सकता हूँ ?

कई बार लोगों को हमने बड़े गौरव के साथ डींग हाँकते भी सुना होगा कि मुझे तो मरने की भी फुरसत नहीं हैं; पर भाई मेरे ! मौत भी कोई फालतू नहीं है कि कभी भी आपके पास चली आवे; पर धोखे में मत

रहना, **जिस दिन मौत आयेगी तो वह आपकी फुरसत का इन्तजार नहीं करेगी कि आपको अभी मरने की फ़ुरसत है या नहीं। वह तो अपना काम पूरा कर ही लेगी, आपके काम चाहे पूरे हुये हों या नहीं।**

इसलिए मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि सचमुच यदि हम चाहते हैं कि हम अपने पीछे कोई काम, कोई जिम्मेदारी बाकी न छोड़ जावें व निर्भार होकर मरें, तो मौत तो हमारे निर्भार होने का इन्तजार करेगी नहीं और न ही हमें समय से पूर्व चेतावनी देकर ही आयेगी, इसलिए **हम स्वयं ही सदा ही अपनी समस्त जिम्मेदारियों को पूर्ण कर अपने आपको प्रतिपल ही मृत्यु के लिए तैयार रखें; और मैं आपको आश्वस्त करना चाहता हूँ कि तब सचमुच ही हम मृत्यु के प्रति भयभीत नहीं रहेंगे।**

मैं जानता हूँ कि मेरा उक्त सुझाव आपको कतई स्वीकार नहीं होगा; क्योंकि हम सभी के व सारे जगत के विचार तो ठीक इसके विपरीत हैं।

हम तो मानते हैं कि यदि जीवन में कुछ करने को नहीं रहेगा तो जीवन समाप्त ही हो जायेगा, शायद हम समय से पूर्व मर जावें। हम मानते हैं कि अगर करने को कुछ शेष नहीं रहा तो जीवन 'मृतवत' हो जावेगा। पर बन्धुवर मैं एक बार फिर वही बात दोहराना चाहता हूँ कि मौत यूं ही फालतू नहीं है कि आपको फुरसत में देखकर आपके पास चली आयेगी और अपने आपको व्यस्त रखकर, समय आने पर मौत को धोखा भी नहीं दिया जा सकता है, तब क्यों न अपने आपको हर समय तैयार रखकर हम अपने आपको मौत के प्रति भय के शिकंजे से मुक्त करलें।

यूं तो मनुष्य इस सृष्टि का सबसे बुद्धिमान प्राणी है, और उसपर तुर्रा यह कि वर्तमान में हम एक ऐसे बुद्धिवादी युग में जी रहे हैं, जिसमें भावनाओं व संवेदनाओं को तो कोई स्थान ही प्राप्त नहीं है। मात्र बुद्धि ही हमें संचालित करती है, हमारे व्यवहार व जीवन को नियंत्रित करती है; तथापि ऐसे बहुत से विषय हैं, जिनपर हमारा सोच मात्र एक परम्परागत

सोच पर आधारित है। हमने उन विषयों पर कभी अपने स्वयं के नजरिये से विचार करने की कोशिश ही नहीं की। उल्लेखनीय तथ्य तो यह है कि हमारा वह तथाकथित परम्परागत सोच अत्यन्त विसंगतियों से भरा हुआ है।

जीवन और मृत्यु के सन्दर्भ में हमारा सोच, हमारा नजरिया – इस विसंगति का एक अद्भुत उदाहरण है।

तथ्य यह है कि कोई व्यक्ति कब तक जीवित रहेगा, कोई नहीं जानता; जीवन कभी भी समाप्त हो सकता है एवं एक न एक दिन मृत्यु भी होनी ही है एवं वह दिन, वह पल कभी भी आ सकता है।

उक्त तथ्य के आधार पर यदि हम अपने जीवन की योजना बनायें तो हमारी जीवन प्रणाली, वर्तमान जीवन प्रणाली से एकदम भिन्न होगी, भिन्न ही नहीं एकदम विपरीत होगी।

वर्तमान में हम मृत्यु की ओर से निश्चिन्त, मौत से बेखबर अपने लिए लम्बी-लम्बी दूरगामी योजनायें बनाते हैं और फिर उन्हें क्रियान्वित करने के लिए अपने आपको झोंक देते हैं – ऐसा करते वक्त हमारा व्यवहार, विचार व आचरण कुछ इसप्रकार का होता है मानो हम सदाकाल ही यहीं रहने वाले हैं; इसी तरह, स्वस्थ व सक्षम। मानो हम अमरता का पट्टा लिखाकर लाये हों, मानो हम कभी मरेंगे ही नहीं।

अपनी इसी वृत्ति को हम जिजीविषा कहते हैं, व हम सभी इसे बहुत पसन्द करते हैं, जीवन के प्रति आशावान व उत्साह से भरपूर व्यक्ति हम सभी को बहुत पसन्द होते हैं।

इसप्रकार अपने आपको झोंककर हम संसार का विकास करते हैं व अपने लिए संसार का विस्तार करते हैं।

जब हमारी योजनायें व आयोजन ही इसप्रकार के होंगे; तब हमें जीवन में अवकाश मिलेगा ही कैसे ? न तो हमारे काम व जिम्मेदारियाँ कभी पूरी होंगी और न हमारे पास मरने की फुरसत ही होगी, और मौत की कल्पना मात्र, मौत की दस्तक मात्र हमें आतंकित करती ही रहेगी,

हम कभी भी मौत की ओर से उदासीन नहीं हो पायेंगे, हम मौत के प्रति तटस्थ (Neutral) नहीं हो पायेंगे।

अपनी उक्त अवस्था के विपरीत हम मृत्यु से आतंकित न रहें, भयभीत न रहें; वरन् मृत्यु के लिए अपने आपको सदा प्रस्तुत रखें। यहाँ मैं यह कतई नहीं कहना चाहता कि हम मृत्यु के लिए लालायित रहें। इसके लिए आवश्यक है कि **हमारे पास दूरगामी योजना तो हो, पर वह इस क्षणिक मनुष्य पर्याय मात्र के लिए नहीं, वरन् त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के लिए हो; क्योंकि यह मनुष्य पर्याय कुछ समय बाद न रहेगी, तब भी मेरी योजना अधूरी नहीं रहेगी; क्योंकि अनादि-अनन्त यह आत्मा, कोई अन्य नहीं, वरन् मैं स्वयं हूँ; जो सदाकाल रहेगा, अपनी उस योजना को क्रियान्वित करने के लिए।**

वर्तमान में तो हम सिर्फ वह करें, जो मात्र आज के लिए, मात्र अभी के लिए आवश्यक है व पर्याप्त है। अगले दिन, अगले पल यदि जीवन रहेगा तो उसका उपक्रम, तत्सम्बन्धित प्रक्रियाएँ स्वत: सम्पन्न हो ही जावेंगी। यदि जीवन न रहा तो श्वासोच्छ्वास की आवश्यकता ही नहीं रहेगी और यदि जीवन बना रहा तो श्वास भी स्वत: ही चलती रहेगी।

इसप्रकार कभी भी हमारे पास अगले पल के लिए ऐसा कोई कमिटमेंट नहीं होगा, जिसके लिए हमें जीवित रहना आवश्यक हो। कमिटमेंट पूरा करने के लिए जीवित रहना आवश्यक नहीं होगा, हाँ ! यदि जीवित रहे तो तत्सम्बधी न्यूनतम (Minimum) आवश्यकतायें (Requirements) उत्पन्न होंगी, जिनकी पूर्ति जीवनक्रम में स्वाभाविक रूप से स्वत: ही हो जावेगी। यह सब क्या और कैसे होगा, इसकी विस्तृत चर्चा अन्य कृति '**जीवन का विज्ञान व जीने की कला**' में विस्तारपूर्वक करेंगे।

यदि सूत्र रूप में कहा जावे तो हम कह सकते हैं कि हमारा यह वर्तमान जीवन हमारी अनंत यात्रा का इस त्रिकाली भगवान आत्मा की अनादि-अनंत जीवन यात्रा का एक पड़ाव मात्र है। यह हमारी अन्तिम नियति नहीं है। यह हमारा गंतव्य नहीं है। यह हमारा अन्तिम लक्ष्य नहीं

है। यह मात्र एक पड़ाव है। एक छोटा सा पड़ाव, मात्र तात्कालिक महत्त्व की वस्तु। हम अपने इस जीवन की व्यवस्थाओं व आयोजनों को मात्र उतना ही महत्त्व दें, जितना हम अपने किसी प्रवाह के दौरान अपने ठहरने व भोजन आदि की व्यवस्थाओं को देते हैं। उस दौरान हमारा सारा ध्यान तो हमारे प्रयोजन की ओर रहता है, अपने लक्ष्य की ओर रहता है। हम निरंतर अपने साध्य का ही चिन्तन करते हैं। उसी की बात करते हैं।

उससे ही सम्बन्धित लोगों से मिलते हैं और उसी से सम्बन्धित उपक्रम करते हैं।

इस दौरान घूमने-फिरने व मौज-शौक की तो बात ही क्या, ठहरने व खाने के प्रति भी इसप्रकार विरक्त रहते हैं कि जहाँ जगह मिली ठहर गए, जब और जो मिला सो कम-से-कम समय में जल्दी-जल्दी खा लिया और फिर अपने मूल काम में लग जाते हैं।

जिसप्रकार मात्र इस वर्तमान जीवन के संदर्भ में इसप्रकार का संतुलित दृष्टिकोण रखने वाला व्यक्ति लौकिक रूप से इस जीवन में सफल होता है; उसीप्रकार इस अनादि-अनंत भगवान आत्मा के संदर्भ में इस जीवन के प्रति एक प्रवासी का सा संतुलित दृष्टिकोण रखने वाला व्यक्ति अपने त्रिकाली लक्ष्य को पाने में सफल होता है।

यही जीवन में हमारी विजय है और यही हमारी मृत्यु पर विजय। ●

क्या विज्ञान धर्म की कसौटी हो सकता है ?

क्या धार्मिक मान्यताओं को आधुनिक विज्ञान मान्यता देता है, क्या यह विज्ञान उन्हें कन्फर्म करता है, क्या उन्हें प्रयोगशालाओं में सिद्ध किया जा सकता है ? यदि हाँ तो ठीक है, पर यदि नहीं तो हम उन्हें कैसे स्वीकार करें ?

ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर अनायास ही हम इस ओर प्रेरित होने लगते हैं कि सचमुच धार्मिक मान्यताओं की विज्ञान द्वारा पुष्टि करवाए जाने के प्रयास किये जाने चाहिए। हम तत्क्षण सक्रिय भी होने लगते हैं और तुरन्त ही कुछ ऐसे प्रमाण भी प्रस्तुत करने लगते हैं कि देखो धर्म कहता है कि पानी में अनंत जीव होते हैं, इसलिए पानी छान कर पीना चाहिए और आज वैज्ञानिक परीक्षणों ने भी साबित कर दिया है कि यह बात सही है। ऐसा कहकर हम इस तरह चारों ओर देखते हैं कि मानो हमने जग जीत लिया हो; पर तभी सामने वाला कहता है कि ठीक है, इसीलिए तो हमने यह बात स्वीकार कर ली है, बस इसी तरह अन्य सभी बातें भी आप विज्ञान के द्वारा साबित कर दीजिए, हम स्वीकार कर लेंगे, और एक बार फिर हम बगले झांकने लगते हैं।

यहाँ हमसे दो गलतियाँ हुई हैं।

पहली तो यह कि हमने जो पानी में पाए जाने वाले जीवों की बात की; वह व उस जैसी ही अन्य बातें न तो धर्म हैं और न धर्म के सिद्धान्त, वह तो उस आचरण की बात है, जो धार्मिक लोगों में पाया जाता है। इन बातों को धर्म मानकर, धर्म से जोड़कर; इनके आधार पर धर्म के संबंध में कोई भी धारणा बनाना उचित नहीं है।

धर्म तो वस्तु के उस स्वभाव का नाम, उन दार्शनिक मान्यताओं का नाम है, जिसकी विस्तृत व्याख्या आचार्यों ने धार्मिक ग्रन्थों में की है।

अत: जब-जब हम धर्म की बात करें, तब-तब हमें उन दार्शनिक

मान्यताओं की बात करना चाहिए, न कि बाहरी आचरण, व्यवहार या इतिहास-भूगोल संबंधी बातों की।

दूसरी बात यह है कि धार्मिक मान्यताओं को कन्फर्म करने या रिजेक्ट करने का आधार भौतिक विज्ञान को स्वीकार करना ही बड़ी भारी भूल है। आखिर आधुनिक भौतिक विज्ञान होता कौन है, धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं की परीक्षा करनेवाला? भौतिक विज्ञान की सीमा मात्र पौद्गलिक पदार्थों के परीक्षण तक ही तो है।

धर्म के बारे में टिप्पणी करने का अधिकार विज्ञान को देकर हम बन्दर के हाथ में तलवार सौंपने जैसा अविवेक पूर्ण कार्य कर बैठते हैं।

आखिर हमारे जीवन-मरण का निर्णय हम किसी अक्षम, अपात्र के हाथ कैसे सौंप सकते हैं ? धर्म हमारा जीवन है, हमारा स्वभाव है; उसे हम यूं ही कैसे दाव पर लगा सकते हैं ?

क्या हमारा यह कृत्य, हमारा घोर अविवेक नहीं है ?

इससे तो ऐसा लगता है, मानो यह आत्मा व आत्मा की व्याख्या करनेवाला यह धर्म, हमारा कुछ है ही नहीं, हमारा इससे कोई संबंध या सरोकार ही नहीं।

जिसप्रकार हम किसी लावारिस बच्चे को अनाथालय में छोड़ आते हैं; उसीप्रकार अपने इस धर्म को विज्ञान के हवाले कर हम छुट्टी पा लेना चाहते हैं। लोग कहते हैं कि आज का युग विज्ञान का युग है, और इस तथ्य से कोई इंकार भी नहीं कर सकता है।

यदि इसी बात को मैं अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत करूँ तो कहना चाहूँगा कि आज का युग विज्ञान नामक महामारी से संक्रमित है।

दोष विज्ञान का नहीं, विज्ञान तो अपनी जगह है और जो है सो है। दोष विज्ञान के प्रति हमारे अपने दृष्टिकोण में है, वे हम हैं जो अपनी ज्ञान, संस्कार एवं संस्कृति की समृद्ध विरासत को तिलांजलि देकर विज्ञान की गोद में जा बैठे हैं, बिना सोचे-समझे, बिना विचार किये।

आज हम विज्ञान से इतने आक्रान्त हो गए हैं कि वही हमारे लिए सबकुछ हो गया है और कोई कुछ भी न रहा, उस पर तुर्रा यह है कि हम कुछ और तो सुनना-जानना ही नहीं चाहते; पर विज्ञान को भी जानते समझते नहीं, बस यूं ही उसके कायल हुए जा रहे हैं, उसके चमत्कारों के बोझ तले दबे जा रहे हैं।

मैं पूछता हूँ कि क्या है विज्ञान एवं विज्ञान का चमत्कार ?

आखिर चमत्कार कहते किसे हैं ? **चमत्कृत होना मात्र अपने अज्ञान की स्वीकृति है और कुछ भी नहीं।**

हम जो नहीं जानते, वह होता है तो हमें लगता है कि चमत्कार हो गया।

वह जो हुआ है, जिससे हम चमत्कृत हैं; क्या वह होने योग्य नहीं था, क्या वह हो नहीं सकता था ?

यदि हो नहीं सकता था, तो हो कैसे गया ?

यदि हो ही गया है तो यह कहना कहाँ तक सही है कि ऐसा हो नहीं सकता ? यह तो हमारा ही अज्ञान था, जो कहता था कि ऐसा हो ही नहीं सकता; इसलिए हो जाने पर हम चमत्कृत होने लगते हैं। **इसीलिए मैं कहता हूँ कि चमत्कृत होना मात्र अपने अज्ञान की स्वीकृति है और कुछ भी नहीं।**

जो होता है, उस रूप परिणमित होना वस्तु का स्वभाव है; इसलिए वह होता है। यदि वह वस्तुस्वभाव नहीं होता तो वह हो ही नहीं सकता था। यदि वस्तु का स्वभाव है तो फिर चमत्कार कैसा ?

इसलिए मैं कहता हूँ कि विज्ञान से चमत्कृत होने की, उससे आक्रान्त होने की कोई आवश्यकता नहीं है और न ही उसकी उपेक्षा करने, उसे भुला देने की आवश्यकता है। आवश्यकता है उसे सही परिप्रेक्ष्य में समझने की।

एक ओर हम विज्ञान से अभिभूत हैं और दूसरी ओर धर्म के प्रति

हमारा दृष्टिकोण नकारात्मक है। नकारात्मक से मेरा तात्पर्य सिर्फ यह नहीं है कि हमारा मंतव्य धर्म से विपरीत है, बल्कि धर्म हमारी दृष्टि में उपेक्षित है, हमारे पास धर्म के बारे में सोचने का वक्त ही नहीं है। धर्म क्या है, क्या कहता है, उसका हमारे जीवन में क्या स्थान है और क्या स्थान होना चाहिए – इस सबके बारे में हमारा कोई सोच ही नहीं है।

धर्म हमारे जीवन का एक अंग है या आभूषण, हमें इसका निर्णय करना होगा।

क्या फर्क है अंग और आभूषण में ? अंग वह होता है, जिसे अपने से पृथक् नहीं किया जा सकता है और आभूषण वह है, जिसे हम धारण करें या न करें – यह हम पर निर्भर करता है।

एक बात और भी है कि शरीर के अंग हमारे लिए उपयोगी होते हैं और आभूषण मात्र दिखावटी।

शरीर के अंग शरीर पर भार नहीं होते; पर आभूषण शरीर पर भार होते हैं। आभूषण बदले जा सकते हैं, पर सामान्यत: अंग नहीं।

आभूषणों के लिए कीमत चुकानी पड़ती है, अंगों के लिए नहीं।

आभूषणों को त्यागा जा सकता है, अंगों को नहीं। या यूं कहिये कि हम चाहें तो आभूषण धारण करें, न चाहे तो न करें; पर अंगों के बारे में ऐसा नहीं है। धर्म हमारे लिए आभूषणों की भांति दिखावटी, बोझिल व अनुपयोगी बाहरी वस्तु नहीं, वरन् धर्म जीवन का अंग है, धर्म ही जीवन है।

वस्तु का स्वभाव धर्म है व उस वस्तुस्वभाव का अध्ययन करने वाले, उसकी व्याख्या करने वाले ज्ञान-विज्ञान का नाम है वीतराग-विज्ञान। इसप्रकार धर्म व धर्म की व्याख्या करने वाला विज्ञान, वीतराग-विज्ञान भी भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान आदि की ही तरह विज्ञान की अनेकों विधाओं में से एक विधा है और इसका अध्ययन करने वाले साधक हैं वैज्ञानिक, अध्यात्मविज्ञानी और इनकी शोध-खोज का विषय

है आत्मा अर्थात् मैं स्वयं। इसीलिए यह वीतराग-विज्ञान हमारे लिए अन्य सभी विज्ञानों से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है।

जिसप्रकार कोर्ट में कोई केस चलता है तो प्रतिवादी द्वारा सर्वप्रथम उस केस को सुनने के कोर्ट के अधिकार को चुनौती दी जाती है।

आज मैं विज्ञान की तथाकथित अदालत को यह चुनौती देता हूँ कि धार्मिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक मान्यताओं को सही या गलत करार देना उसके अधिकार क्षेत्र में नहीं है।

मैं यहाँ अपनी इस चुनौती के समर्थन में कुछ तर्क प्रस्तुत करता हूँ–

अरे भाई ! बड़ी साधारण सी बात है कि जगत में दो तरह के द्रव्य पाये जाते हैं– मूर्तिक; जिन्हें देखा, छुआ, चखा व सूंघा जा सकता है व अमूर्तिक, जैसे आत्मा, आकाश आदि, जिन्हें न तो देखा जा सकता है और न ही सूंघा जा सकता है।

इनमें से भौतिक या आधुनिक विज्ञान ने मूलत: उन रूपी (मूर्तिक) पदार्थों को अपने अन्वेषण का विषय बनाया है, जिसे पुद्गल कहते हैं व इस क्षेत्र में विज्ञान ने असाधारण विशेषज्ञता हासिल की है और इस कार्य के लिए वह अभिनन्दनीय है; परन्तु विज्ञान की शोध-खोज का विषय यह आत्मा-परमात्मा मूलत: कभी नहीं रहा और न ही इस विज्ञान ने इस क्षेत्र में कोई विशेष उपलब्धि ही हासिल की है। आत्मा व परमात्मा धर्म व दर्शन के विषय रहे हैं।

उक्त तथ्य पर गौर करने पर, क्या हमें स्वयं ही अपने इस अविवेक पर हंसी नहीं आयेगी कि हम अपनी आत्मा को उस विज्ञान की दया-मेहरबानी पर छोड़ देना चाहते हैं जो 'आत्मा-परमात्मा' के विषय में एक अबोध बालक से अधिक कोई हैसियत नहीं रखता है।

आंख का कोई डॉक्टर आंख के बारे में चाहे कितनी ही बड़ी हस्ती (Authority) क्यों न हो, हृदय रोग के बारे में उसकी राय क्या महत्त्व रखती है ? क्या हम मात्र इसलिए उससे अपने हृदय की बीमारी का

इलाज भी करवाने को तैयार हो जावेंगे; क्योंकि वह विश्व में आंख का सबसे बड़ा डॉक्टर है।

तब फिर हम आत्मा के बारे में ऐसा कैसे कर सकते हैं ?

मैं आपसे एक साधारण सा सवाल पूछता हूँ – आप उस व्यक्ति की कितनी इज्जत करेंगे, उस पर कितना भरोसा करेंगे; जो कभी कुछ कहे व कभी कुछ, वह भी अपने ही पूर्वापर (आगे-पीछे के) कथन से सर्वथा विपरीत; जो अपनी बातों से बार-बार फिर जावे, बदल जावे।

बिल्कुल भी नहीं न ? तब फिर क्यों विज्ञान पर फिदा हुए जा रहे हैं? वह भी तो ऐसा ही है। कभी कुछ कहता है, कभी कुछ। आज कुछ और कहता है कल कुछ और। अरे, आज ही, एक ही दिन एक वैज्ञानिक कुछ कहता है, दूसरा कुछ और।

आज सारा जमाना विज्ञान के लिए समर्पित है, विज्ञान के पीछे पागल हुआ जा रहा है। सरकारें विज्ञान की शोध-खोज के पीछे अरबों-खरबों रुपया खर्च करती हैं।

समस्त मानव समाज का सबसे अधिक शिक्षित व बुद्धिमान वर्ग विज्ञान के अध्ययन में जुट जाता है व अन्य सभी उनके सहयोगी बन जाते हैं। वह अत्यन्त मेधावी व्यक्ति अपने सारे जीवन की साधना व तपस्या, सम्पूर्ण समर्पण व अनन्त धनराशि खर्च करने के बाद एक निष्कर्ष पर पहुँचकर घोषणा करता है कि अब तक हम जो मानते आये हैं, वह सही नहीं था, सत्य तो यह है, जो मैं आज बता रहा हूँ।

और हम वाह-वाह करने लगते हैं, उसके कायल हो जाते हैं।

अगले ही दिन कोई अन्य वैज्ञानिक फिर घोषणा करता है कि सत्य तो वह भी नहीं था, जो कल बताया गया था। वह तो गलत साबित हो गया है। आज का सत्य तो यह है, और हम एक बार फिर अभिभूत हो जाते हैं। मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि **इस बात की भी क्या गारंटी है कि आज जो कहा जा रहा है, वह भी अन्तिम सत्य है।**

हर बार यही तो कहा गया था, पर हर बार का वह अन्तिम सत्य कुछ काल भी तो न टिक सका, अब भी कौन कह सकता है कि आज का यह अन्तिम सत्य इसी विज्ञान के द्वारा ही कल फिर गलत साबित नहीं कर दिया जायेगा और हम हैं कि ऐसे इस विज्ञान के भरोसे अपने इस आत्मा के बजूद (Existance) को ही दाव पर लगा देना चाहते हैं।

अरे विज्ञान भी किसी एक व्यक्ति या एक मान्यता या एक विधा का नाम नहीं है। इस जगत में अनेकों वैज्ञानिक हैं व विज्ञान की अनेकों विधायें (Faculties) हैं।

प्रत्येक विधा के ज्ञाता अलग-अलग लोग हैं व वे अपने विषय के विशेषज्ञ होने के बावजूद अन्य विषय के बारे में शून्य होते हैं व एक विधा के वैज्ञानिक दूसरी विधा के वैज्ञानिकों के निष्कर्षों से सहमत हों – यह भी जरूरी नहीं। उनके बीच भी कई गहरे मतभेद पला करते हैं।

अरे एक ही विधा के वैज्ञानिकों के बीच भी एक ही विषय पर अनेकों राय हुआ करती हैं। तब वे प्रामाणिक कैसे हो सकते हैं ?

ऐसी स्थिति में हम अपने आत्मा व अपने धर्म को उन अज्ञानियों की चौखट पर ठोकरें खाने के लिए छोड़ दें – यह कैसा अविवेक है ?

एक बात और –

जगत में हम साधारण से साधारण मामले में भी न्याय पाने के लिये किसी के पास जाते हैं तो हम सुनिश्चित कर लेना चाहते हैं कि –

१. न्यायाधीश बनने वाला व्यक्ति बुद्धि से इतना सक्षम हो कि जो न्याय-अन्याय का फैसला कर सके।

२. न्यायाधीश विचाराधीन विषय का विद्वान हो, ताकि सत्य व असत्य का निर्णय कर सके।

३. न्यायाधीश किसी पूर्वाग्रह से ग्रस्त न हो।

४. न्यायाधीश का हित-अहित संबद्ध मामले से जुड़ा हुआ न हो।

५. न्यायाधीश संबद्ध मामले से भावनात्मक रूप से जुड़ा हुआ न हो।

६. किसी भय या लोभ के प्रभाव से न्यायाधीश को अपने न्याय मार्ग से विचलित न किया जा सके।

७. न्यायाधीश चरित्रवान व नीतिवान हो, जिसे किसी भी प्रकार से न्याय के मार्ग से विचलित न किया जा सके।

अपनी दार्शनिक मान्यताओं के बारे में निर्णय करवाने के लिए विज्ञान की शरण में जाने से पहिले क्या यह सुनिश्चित कर लेना आवश्यक नहीं कि क्या विज्ञान व वैज्ञानिक उक्त कसौटियों पर खरे उतरते हैं ?

आज विज्ञान का अध्ययन या शोध-खोज कोई स्वयं के सुख के लिए (स्वान्त:सुखाय) या परोपकार के लिए किया गया कार्य नहीं है, वरन् यह व्यक्तियों व सरकारों द्वारा शुद्ध आर्थिक व राजनैतिक फायदों के लिए अध्ययन है और इसलिए विज्ञान की शोध-खोज के नाम पर जो तथ्य हमारे सामने आते हैं; वे सदा ही शुद्ध (सत्य) नहीं, रंजित हुआ करते हैं।

वे तथ्य शोधकर्ता व्यक्तियों व देशों के आर्थिक व राजनैतिक फायदे-नुकसान के अनुसार तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किये जाते हैं; क्योंकि वे शोध-खोज अभियान किसी कम्पनी या सरकार के खर्च पर, उनके हित के लिए चलाये जाते हैं; शोधकर्ता उन कम्पनियों व सरकारों के आर्थिक व राजनैतिक दबाबों में रहकर कार्य करते हैं।

यूं भी वैज्ञानिक लोग कोई सन्त नहीं हैं, वे अपने-पराये या हानि-लाभ की भावना से परे नहीं हैं; अत: हम उनकी बातों में आकर अपनी 'आत्मा' को तो दाव पर नहीं लगा सकते हैं न ?

यूं भी बड़े-बड़े वैज्ञानिकों या अन्य क्षेत्रों के विशेषज्ञों को, जो अपनी-अपनी विद्या में अत्यन्त आधुनिक सोच रखते हैं व प्रगतिशील होते हैं, धार्मिक या आस्था संबंधी अन्य मामलों में पुरातन मान्यताओं की चौखट पर ही माथा टेकते देखा जा सकता है। वे अपने तथाकथित विज्ञान के अलावा अन्य सभी मामलों में पुरातनपंथी ही रहते हैं।

ऐसे में किसी का क्या भरोसा कि वह विज्ञान के नाम पर अपनी स्वयं की धार्मिक निष्ठा का ही प्रसार करने का यत्न नहीं कर रहा है।

एक बहुत बड़ा व महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि वैज्ञानिक शोध-खोज में लगे लोग सन्त महात्मा नहीं हुआ करते, अधिकतर वे सभी लोग सभी प्रकार की मानव सुलभ कमजोरियों के दास व शिकार होते हैं, सामान्यतया उनके जीवन में खान-पान व चारित्र-आचरण संबंधी पवित्रता का दर्शन दुर्लभ ही होता है तथा वे भय-लोभ, मान-क्रोध, छल-कपट, मिथ्यावादी आदि कमजोरियों के शिकार होते हैं।

जिनका भोजन ऐसा हो, जिसमें अत्यन्त क्रूरता निहित हो (जो मांसाहारी हों) या जो ऐसे व्यसनों जैसे कि शराब पीना या अन्य नशा करना, वेश्या गमन करना, परस्त्री रमण करना, जुआ खेलना आदि में गहराई से डूबे हुए हों; ऐसे लोग तो जगत के साधारण से साधारण निर्णय भी ठीक ढंग से करने के लायक नहीं रह जाते, जगत में भी विश्वसनीय नहीं माने जाते हैं, नशे में विवेक रह ही कहाँ पाता है ? अन्य व्यसन भी अत्यन्त अविवेक की ओर ही संकेत करते हैं।

ऐसी वृत्तियों वाले, हीन गतिविधियों में लिप्त व्यक्ति, परम पवित्र आत्मा के बारे में; अति सूक्ष्म, अदृश्य, अस्पर्श आत्मा के बारे में क्या शोध-खोज कर सकते हैं ?

यह तो स्पष्ट ही है कि वैज्ञानिक लोगों का अध्ययन विज्ञान की अपनी विधाओं के बारे में कितना भी गहरा क्यों न हो, दार्शनिक मामलों में वे बालकवत् ही हैं।

दरअसल यह भी हमारा भ्रम ही है कि दार्शनिक व आध्यात्मिक (धार्मिक) मान्यताओं को विज्ञान मान्यता नहीं देता है या ये मान्यतायें विज्ञान की कसौटी पर खरी नहीं उतरती हैं, सच्चाई तो यह है कि विज्ञान ने इन्हें कभी कसौटी पर कसने का प्रयास ही नहीं किया है।

विज्ञान आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है या नहीं, पुनर्जन्म

को मानता है या नहीं; इस ऊहापोह में उलझे हुए लोगों का ध्यान मैं इस तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि विज्ञान आज तक आत्मा के अस्तित्व को नकार नहीं सका है और न ही इस संबंध में अपने कोई ठोस विचार ही प्रस्तुत कर सका है। इसका तात्पर्य यह है कि विज्ञान आत्मा के संबंध में अज्ञानी है और किसी अज्ञानी के विचारों का क्या महत्त्व है?

पुद्गल अति स्थूल है व आत्मा अति सूक्ष्म। सभी जानते हैं कि वैज्ञानिक शोध-खोज के लिए अत्यन्त सूक्ष्म व एक्यूरेट, अति संवेदनशील उपकरणों की आवश्यकता होती है, उनके बिना सही निरीक्षण व गणनायें नहीं की जा सकती हैं व सही निष्कर्षों पर नहीं पहुँचा जा सकता है।

विज्ञान के विषयों में आगे की शोध-खोज प्रारम्भ करने से पूर्व वैज्ञानिक लोग स्वयं अबतक की शोध-खोज का बड़ी गहराई से विधिवत् अध्ययन करते हैं, तत्संबंधी प्रचलित विभिन्न मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं, विभिन्न प्रयोगों के द्वारा उन्हें स्वयं प्रमाणित करते हैं और इस प्रक्रिया में सामान्यतया उनका आधे से अधिक जीवन व्यतीत हो जाता है, तब वे अपने आपको इस स्थिति में पाते हैं।

उसीप्रकार आत्मा भी शोध-खोज का विषय है, आत्मा की शोध-खोज के लिए भी एक सतर्क, समर्पित, अत्यन्त सरल; क्रोध, मान, माया, लोभ, भय व अन्य सामान्य मानव सुलभ कमजोरियों से रहित एक निर्भार, पवित्र, सूक्ष्मान्वेषी, साधक आत्मा की आवश्यकता है, जो कि गहराइयों में जाकर आत्मा का अनुभव कर सके।

आज के इन वैज्ञानिकों ने आत्मा व धर्म से संबंधित सभी प्रचलित विचारधाराओं का गइराई से अध्ययन व शोध की ही नहीं है, तब वे किसप्रकार इस विषय पर अपने विचार प्रकट करने के भी अधिकारी हो सकते हैं।

अरे भाई ! हर विषय की शोध-खोज की विधि, उपकरण व स्थल अलग-अलग हुआ करते हैं। भौतिक विज्ञान, जीव विज्ञान व रसायन

शास्त्र का अध्ययन तत्संबंधी प्रयोगशालाओं में उपकरणों की सहायता से किया जाता है, पर मनोविज्ञान का अध्ययन उसी विधि से उन्हीं प्रयोगशालाओं में नहीं हो सकता।

मानव जीवन ही इसकी प्रयोगशाला है और वह यत्र-तत्र-सर्वत्र उपलब्ध है। उनके अध्ययन की विधि भिन्न है, योग्यता भिन्न है। क्या एक भौतिक या रसायन विज्ञानी या एक गणितज्ञ मनोविज्ञान का अध्ययन करके सही निष्कर्ष निकाल सकता है ? कभी नहीं।

गणितज्ञ एक और एक=दो की बात पकड़कर बैठ जायेगा, पर मनो वैज्ञानिक जानता है कि किसप्रकार एक और एक दो ही नहीं, बल्कि ग्यारह भी होते हैं। एक और एक मिलकर उसमें निहित ग्यारह की शक्ति को जिसप्रकार गणितज्ञ नहीं पहिचान सकता; उसीप्रकार अदृश्य अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा की महान, अनन्त शक्ति को आज का यह भौतिकवादी विज्ञान नहीं पहिचान सकता। अतः **आत्मा की खोज के लिए इस भौतिक विज्ञान की ओर ताकना व्यर्थ है।**

अरे ! न्याय का विज्ञान कहेगा कि खून की सजा खून, मौत की सजा मौत; पर मातृत्व का मनोविज्ञान इसे कभी स्वीकार नहीं कर सकता। अपनी ही सन्तान की शिकार बनी माता का मनोविज्ञान अपने कातिल बेटे को सिर्फ आशीर्वाद ही दे सकता है, अभिशाप नहीं।

यह कोई आदर्श या कोरी कल्पना नहीं, मातृत्व मनोविज्ञान का यथार्थ है, इस सत्य को वह आंखों पर काली पट्टी बांधे न्याय का विज्ञान भला क्या समझेगा ?

कहने का तात्पर्य यह है कि सब विषय अपने आप में भिन्न-भिन्न, अपनी-अपनी विशेषतायें लिए हुए हैं व एक विषय का दूसरे के अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप उचित नहीं है। इसलिए उचित यही है कि हम विज्ञान को विज्ञान का काम करने दें व धर्मात्माओं को धर्म का कार्य करने दें, दोनों को मिलाये नहीं।

एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हमारे वैज्ञानिक सर्वज्ञ नहीं, अल्पज्ञ हैं; वे सबकुछ एक साथ व सबकुछ सच्चा नहीं जानते; वे सम्पूर्ण सत्य के मात्र एक पक्ष के ही विशेषज्ञ होते हैं, ऐसी स्थिति में उनकी दृष्टि से सत्य के अन्य अनेकों पक्ष ओझल ही रह जाते हैं, तब वे एक वस्तु की सम्पूर्ण व सही व्याख्या किस तरह कर सकते हैं ? उनकी अपनी सीमायें हैं व उनसे इस तरह की अपेक्षा रखना हमारा ही अविवेक है।

भौतिक विज्ञान सम्पूर्णतः विकसित ज्ञान नहीं है, वह अभी तक वृद्धिंगत शिशु है व उसके कोमल कमजोर कन्धों पर आत्मा और परमात्मा पर टिप्पणी करने का इतना बड़ा बोझ डाल देना हमारी ओर से विज्ञान पर ज्यादती ही कही जावेगी।

मानवता के नाते तो वैज्ञानिक भी साधारण मनुष्य ही हैं, वे भी हीनता या उच्चता की भावना से ग्रस्त होते हैं, हो सकते हैं; और ये भावनायें स्वयं उन्हें सत्य का साक्षात्कार नहीं होने देती, तब वे औरों का मार्गदर्शन कैसे करेंगे ?

हमारे वे सन्त, महात्मा व साधक; जिन्होंने आत्मसाधना के बल पर अपनी समस्त कमजोरियों पर विजय पाकर, वह सूक्ष्मता व शक्ति प्राप्त कर ली है, जो आत्मा को जानने व पहिचानने के लिए आवश्यक है; वे वस्तुतः ही आत्मा के विषय में आधिकारिक टिप्पणी करने के अधिकारी हैं व वे ही हमारे लिए अनुकरणीय भी हैं और उनके द्वारा अपनाई गई विधि आत्म अन्वेषण की विधि है, यदि वैज्ञानिकों को आत्मान्वेषण करना हैं तो उन्हें भी यही सब करना होगा।

यदि मैं कहूँ तो चौंक मत जाइयेगा, पर **यह यथार्थ है कि विज्ञान व वैज्ञानिकों का दृष्टिकोण एक संकुचित दृष्टिकोण है; क्योंकि विज्ञान की प्राथमिकतायें सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक नहीं हैं।** विज्ञान का लक्ष्य कुछ सीमित लोगों, एक सीमित वर्ग को लाभ पहुँचाना है, प्राणिमात्र

को नहीं; इसलिए यह सार्वभौमिक नहीं है तथा यह विज्ञान व वैज्ञानिक, मानव की आज की, मात्र आज की समस्याओं में ही इस कदर उलझे हुए हैं कि या तो भविष्य के बारे में सोचने की उनके पास फुर्सत ही नहीं या फिर वे वर्तमान के लिए भविष्य के हितों को तिलांजलि दे देते हैं; इसलिए वे सार्वकालिक नहीं हैं। ऐसे ये वैज्ञानिक सार्वभौमिक व सार्वकालिक, निष्पक्ष वीतरागी धर्म के बारे में निर्णय करने के अधिकारी कैसे हो सकते हैं ?

उक्त कथन थोड़ी और स्पष्टता की अपेक्षा रखता है। मेरा कहने का आशय यह है कि विज्ञान की चिन्ता का विषय या विज्ञान की करुणा का विषय सृष्टि का प्राणिमात्र (प्रत्येक प्राणी) नहीं है; उनकी सोच का विषय मात्र मानव समाज है; विज्ञान के अध्ययन व शोध-खोज का लक्ष्य मात्र मानव के लिए सुविधायें जुटाना है, अन्य प्राणियों की कीमत पर भी, अन्य प्राणियों को नुकसान पहुँचा कर भी। अन्य प्राणी तो उनके लिए भोग्य हैं और उनके अनुसार मानव की साधारण से साधारण सी सुविधा के लिए भी अन्य किसी भी प्राणी समूह का कितना भी बड़ा बलिदान किया जा सकता है। जबकि आत्मा के अध्ययन में रत धर्म का कार्य क्षेत्र प्राणिमात्र है, प्राणीमात्र धर्म की करुणा का विषय है व धर्म प्राणीमात्र के हित की बात सोचता है, करता है।

कदाचित् विज्ञान प्राणियों या वनों के विनाश के प्रति चिन्तित भी दिखाई देता है तो वह प्राणियों या वृक्षों पर करुणा करके नहीं, वरन् पर्यावरण का सन्तुलन बिगड़ जाने के भय से करता है, इसमें भी उसका मानव का स्वार्थ ही प्रदर्शित होता है।

इसीप्रकार विज्ञान मानव की आज की सुविधा के सामने भविष्य के हितों का बलिदान करने में नहीं हिचकता, आज सुविधा मिले तो उसके परिणामस्वरूप इस सृष्टि पर कल क्या बुरा प्रभाव पड़ेगा, इसकी चिन्ता किये बिना विज्ञान आगे बढ जाता है।

वस्तुत: तो पूरा का पूरा मानव समाज भी कहाँ उनके चिन्तन का विषय है। अरे वे तो अपनी खोजों के बल पर अन्य मानव समूहों का भी शोषण ही करना चाहते हैं, उन्हें अपना गुलाम बनाना चाहते हैं, उनसे अपने आर्थिक व राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति करना चाहते हैं।

उक्त सभी तथ्यों को ध्यान में रखकर ही मैं यह कहने का साहस कर सका हूँ कि विज्ञान का दृष्टिकोण संकुचित है।

एक और दृष्टि से भी विज्ञान का दृष्टिकोण संकुचित कहा जावेगा कि विज्ञान का लक्ष्य मात्र भौतिक साधन जुटाना है, भौतिक उपलब्धियाँ ही उसकी उपलब्धियाँ हैं। आध्यात्मिक उपलब्धियाँ उसका लक्ष्य नहीं हैं, उसका विषय नहीं है। अध्यात्म की ओर विज्ञान का ध्यान ही नहीं है। भौतिक सुख व उपलब्धियाँ मात्र सुखाभास हैं व तात्कालिक महत्त्व की वस्तुयें हैं, त्रैकालिक महत्त्व की वस्तु तो अध्यात्म व आध्यात्मिक उपलब्धियाँ हैं।

यदि धर्म किसी पूर्व मान्यता का खण्डन करता तो यह जानने व प्रमाणित करने के बाद करता है कि पूर्व प्रचलित विभिन्न मान्यतायें क्या-क्या हैं व उनका आधार क्या है ?

धार्मिक-दार्शनिक आस्थाओं का खण्डन करने से पूर्व किस वैज्ञानिक ने जगत में प्रचलित तत्संबंधित विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं का अध्ययन किया है ? बिना जाने समझे ही यह खण्डन कैसा ?

यह भी स्पष्ट है कि अधिकतम वैज्ञानिक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हैं, भावनाओं द्वारा संचालित हैं व अपने हानि-लाभ को ध्यान में रखकर अत्यन्त दवाब में कार्य करते हैं।

यदि उनके जीवन क्रम पर दृष्टि डाली जावे तो हम पायेंगे कि उनका आचरण, व्यवहार, चरित्र व खान-पान संबंधी सात्विकतायें भी उस स्तर की नहीं है; जिनके रहते, उन्हें किसी आराध्य पद पर सुशोभित किया जा सके।

यूं भी वैज्ञानिक विधि यह है कि वे यदि किसी प्रचलित मान्यता का खण्डन करें तो अपने उस खण्डन को साबित करने के लिए ठोस सबूत दें व यदि वह सत्य नहीं तो यथार्थ क्या है, उसकी स्थापना करें, पर न तो आजतक विज्ञान आत्मा के अस्तित्व को, उसकी अनादि-अनन्तता को व पुनर्जन्म को ठोस प्रमाणों के आधार पर नकार पाया है और न ही आत्मा के अस्तित्व व पुनर्जन्म जैसे तथ्यों की पुर्नव्याख्या दे पाया है; तब इस संबंध में विज्ञान का कोई भी कथन क्या महत्त्व रखता है ?

विज्ञान विषय से संबंधित किसी व्यक्ति के कोई भी अविचारित, गैर जिम्मेदारना कथन को वैज्ञानिक मान्यता नहीं कहा जा सकता। उक्त मान्यताओं का वैज्ञानिक ढंग के विधिवत् विवेचन किया जाना चाहिए, तब वह वैज्ञानिक मान्यता कहला सकती है।

सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि दार्शनिक मान्यताओं की तो बात ही जाने दीजिये, वह तो विज्ञान का कार्यक्षेत्र ही नहीं है; परन्तु विज्ञान स्वयं अपने कार्यक्षेत्र में भी अभी शैशवास्था में ही है, निरन्तर वृद्धिगत है, निरन्तर प्रगति कर रहा है।

अभी विज्ञान अपने आप में संपूर्ण नहीं है, आधा-अधूरा है; अभी तक उसने पुद्‌गल के क्षेत्र में भी मात्र कुछ ही प्रश्नों के उत्तर खोजे हैं, अभी तो अनेकों (अनन्त) सवालों के उत्तर उसे खोजने हैं।

ऐसे एक आधे-अधूरे व्यक्ति या संकाय के हाथों अपने आपको, अपनी समृद्ध दार्शनिक मान्यताओं को सौंप देना कितना विवेक सम्मत होगा ? क्या यह बन्दर के हाथ में तलवार देकर अपनी गर्दन भी प्रस्तुत कर देने जैसा हास्यास्पद व अविवेक भरा कार्य नहीं है ?

उक्त सभी दृष्टिकोणों से विचार करने पर हम पायेंगे कि हमारे लिए यही उचित है कि विज्ञान को उसका कार्य करने दें व हम अपने कार्य में लगे रहें। आत्मा-परमात्मा संबंधी अपनी धार्मिक व दार्शनिक मान्यताओं के समर्थन के लिए हमें आधुनिक विज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है।

वैसे भी क्या कोई पड़ौसी के घर के कुंए के भरोसे अपने घर के घड़े फोड़ देता है या फोड़ देने चाहिए?

नहीं न ?

हर धार्मिक मान्यता की पुष्टि के लिए विज्ञान का मुंह ताकनेवाले लोगों से मैं कुछ सामान्य सी बातें पूछना चाहता हूँ कि कल तक, जब तक विज्ञान ने वायुयान या मिसाइल नहीं बनाये थे या रेडियो व टेलीविजन का आविष्कार नहीं कर लिया था; तब क्या हम अपने पुराणों में वर्णित अग्निबाण या पुष्पक विमान पर भरोसा कर पाते थे ? क्या उन्हें मात्र कपोल कल्पित नहीं मान बैठे थे, या कि 'आकाशवाणी हुई' पर हम भरोसा कर पाते थे या संजय द्वारा महाभारत के युद्ध का आंखों देखा हाल भीष्म पितामह को घर बैठे सुनाने की बात की सत्यता की कल्पना भी कर सकते थे या पानी की एक-एक बूंद में अनन्त जीवराशि होती है – यह बात हमारे गले उतरती थी ? नहीं न ? पर क्या तब यह सत्य नहीं था ? यह सब सत्य था यह आज विज्ञान ने साबित कर दिया है।

तब क्या उस समय हमारा इन बातों पर भरोसा न करना हमारा महा अविवेक का कार्य नहीं था ? क्या विज्ञान के कन्फर्म न कर पाने से सत्य बदल गया था ? नहीं न ?

यही बात आज लागू क्यों नहीं हो सकती। हो सकता है विज्ञान धर्म की जिन बातों को आज तक जान नहीं पाया है, कल जान जावे, कल कन्फर्म कर दे। पर तब हमारा क्या होगा ? तब हम तो नहीं होंगे न.........।

अब आप ही कहिए कि विज्ञान के अज्ञान का, विज्ञान के आधे-अधूरेपन का अभिशाप हम क्यों भुगतें, उसके शिकार हम क्यों बनें ? जबकि सन्तों की वाणी, और उनका ज्ञान पहिले से ही हमारे पास है।

यहाँ कोई कह सकता है कि भाई ! हम सुनी-पढ़ी बातों पर भरोसा नहीं कर सकते, हमें तो प्रयोगशाला में साबित करके दिखाइये; तब हम आपकी, धर्म की, आत्मा-परमात्मा वाली बातें स्वीकार कर सकते हैं,

अन्यथा नहीं; पर भाई साहब विज्ञान की बातें भी तो आपने मात्र सुनी या पढ़ी ही हैं, आपने कहाँ स्वयं उनका अनुभव किया है ? कहाँ स्वयं प्रयोग किया है।

इस बात से क्या फर्क पड़ता है कि धर्म की एक बात जो हमने सुनी है, वह १००० वर्ष पहिले कही गई थी या कि विज्ञान की जो बात हमने सुनी पढी है, वह १०-२० या ५०-१०० वर्ष पहले कही गई है।

हमारे लिए तो दोनों ही बातें सुनी-पढी हुई हैं, स्वयं अनुभूत तो नहीं हैं न ? तब धर्म क्यों अविश्वसनीय हो गया व विज्ञान क्यों विश्वसनीय बन गया ?

रही बात यह कि हमने देखा तो नहीं है, देखने की जरूरत भी नहीं समझी; क्योंकि हमको अविश्वास भी नहीं हुआ; पर आवश्यकता पड़ने पर विज्ञान हमें अपनी बातें प्रयोगशाला में साबित करके दिखा तो सकता है न, इसका हमें भरोसा है।

धन्य हैं आप ! आपको, शराबी, व्यसनी व स्वार्थी, अल्प ज्ञानी, रागी-द्वेषी वैज्ञानिकों की बातों पर तो भरोसा है और सदाचारी, उच्च चरित्रवान, तपस्वी, निस्वार्थ, सर्वज्ञ, वीतरागी व्यक्तित्वों, सन्त-महन्तों की सतर्क बातों पर भरोसा नहीं।

रही बात प्रयोगशाला में साबित करने की, तो हाँ मैं कहता हूँ कि धार्मिक सिद्धान्त भी प्रयोगशाला में साबित किये जा सकते हैं।

अरे आत्मा की प्रयोगशालाओं में अनुभव करके ही उनकी व्याख्या की गई है। पर धर्म के प्रयोग के लिए कहाँ हैं आपके पास उस स्तर के प्रयास, उस स्तर का समर्पण, उस स्तर की ज्वलंत लालसा, उस स्तर की शिक्षा; जैसी कि विज्ञान के लिए है। अरे ! विज्ञान की छोटी-मोटी उपलब्धियाँ; उनके पीछे किये गये विशाल समर्पण का परिणाम है। उसकी तुलना में धर्म के लिए क्या किया हमने ?

यदि इसी स्तर के प्रयास समर्पण भाव से आत्मा के क्षेत्र में किये

जावें तो परमात्मा के दर्शन हो ही जावेंगे, आत्मा के दर्शन हो ही जावेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं। यही सब भूतकाल में अनन्त ऋषियों ने किया भी है, और हम सब आज भी कर सकते हैं; आवश्यकता है मात्र सम्यक् प्रयासों की।

फिर विज्ञान अपने विषय में कितना ही समृद्ध क्यों न हो; हमारे लिए, दार्शनिक मान्यताओं के लिए उसका क्या महत्त्व है ? उसके भरोसे हम अपने समृद्ध दार्शनिक ज्ञान को कैसे तिलांजलि दे सकते हैं ?

धर्म-दर्शन व दार्शनिक मान्यतायें समृद्ध व अपने आप में परिपूर्ण हैं, जबकि विज्ञान अभी विकासशील अवस्था में है, वह सम्पूर्ण नहीं है। तब यदि विज्ञान चाहे तो अपनी मान्यताओं की पुष्टि के लिए धर्म व दर्शन की शरण में आ सकता है।

वैज्ञानिक क्या कहते हैं – यह जान लेने मात्र से कोई वैज्ञानिक नहीं बन जाता है, वैज्ञानिक बनने के लिए प्रयोगशाला में स्वयं परीक्षण करने पड़ते हैं। उसीप्रकार प्रयोगशाला में आत्मानुभव के परीक्षण करने होंगे।

धर्म पराश्रित क्रिया नहीं, वरन् स्वपरीक्षित साधना है, धर्म की परीक्षा के लिए हमें किसी अन्य की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं, वरन् सबकी शरण छोड़कर स्वयं अपने में सिमट जाने की आवश्यकता है। उसीप्रकार धर्म के, वीतराग-विज्ञान के वैज्ञानिक बनने के लिए हमें स्वयं अपनी आत्मा की प्रयोगशाला में आत्मानुभव के परीक्षण करने होंगे, ऐसा करने पर आत्मा-परमात्मा से संबंधित आचार्यों के कथनों की सत्यता हमारे समक्ष स्वयं ही स्पष्ट हो जायेगी और यही दृढ़ता भरी आस्था आत्महित के लिए कार्यकारी है। •

हमारे यहाँ प्राप्त महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

आचार्य एवं प्राचीन विद्वानों के ग्रंथ

समयसार/प्रवचनसार/नियमसार/अष्टपाहुड़
पंचास्तिकायसंग्रह/मोक्षशास्त्र/भावदीपिका
समयसार नाटक/मोक्षमार्गप्रकाशक/सत्तास्वरूप
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/छहढाला/चिद्विलास
स्वरूपसंबोधन/सम्यग्ज्ञानचंद्रिका/दीपचंद ग्रंथमाला
परीक्षामुख/इष्टोपदेश एवं समाधितंत्र/परमात्मप्रकाश
वारसाणुवेक्खा/क्षत्रचूड़ामणि/समयसार कलश
कार्तिकेयानुप्रेक्षा/बृहद् द्रव्यसंग्रह/आत्मानुशासन
रत्नकरण्ड श्रावकाचार/लघुतत्त्व स्फोट
ज्ञानानन्द श्रावकाचार/योगसार प्राभृत

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन

प्रवचनरत्नाकर भाग १ से ११ तक/नयप्रज्ञापन
मोक्षमार्ग प्रवचन भाग-१,२,३,४/ज्ञानगोष्ठी
वी.वि. प्रवचन भाग १ से ६ तक/कारणशुद्धपर्याय
समयसार नाटक प्रवचन/नियमसार प्रवचन
बृहदद्रव्यसंग्रह प्रवचन/भक्तामर प्रवचन
दिव्यध्वनिसार प्रवचन/समाधितंत्र प्रवचन
श्रावकधर्मप्रकाश/ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव
अध्यात्मरत्नत्रय/अध्यात्मसंदेश/ज्ञानगोष्ठी
मुक्ति का मार्ग/पदार्थ-विज्ञान/योगसार प्रवचन
कारणशुद्धपर्याय/नयप्रज्ञापन/मूल में भूल
अष्टपाहुड़ प्रवचन/अलिंगग्रहण प्रवचन
अनुभवप्रकाश प्रवचन

डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के प्रकाशन

समयसार(ज्ञायकभावप्रबोधिनी)/समयसार का सार
समयसार अनुशीलन सम्पूर्ण भाग १,२,३,४,५
प्रवचनसार (ज्ञायज्ञेयप्रबोधिनी)/प्रवचनसार का सार
प्रवचनसार अनुशीलन भाग-१ से ३
चिन्तन की गहराईयाँ/सत्य की खोज/बिखरे मोती
बारह भावना : एक अनुशीलन/धर्म के दशलक्षण
आत्मा ही है शरण/सूक्तिसुधा/आत्मानुशासन
पं. टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व/निमित्तोपादान
४७ शक्तियाँ और ४७ नय/रक्षाबन्धन और दीपावली
तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ
भ. ऋषभदेव/प्रशिक्षण निर्देशिका/आप कुछ भी कहो
क्रमबद्धपर्याय/दृष्टि का विषय/गागर में सागर
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव/अध्यात्मनवनीत
परमभावप्रकाशक नयचक्र/छहढाला का सार
आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम
पश्चात्ताप/मैं कौन हूँ/मैं स्वयं भगवान हूँ
णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन/अर्चना
रक्षाबंधन दीपावली/युगपुरुष कानजी स्वामी
रीति-नीति/गोली का जवाब गाली से भी नहीं
शाश्वततीर्थधाम : सम्मेदशिखर/बिन्दु में सिन्धु
अहिंसा : महावीर की दृष्टि में/शाकाहार
वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर
अनेकान्त और स्याद्वाद/पंचकल्याक प्रतिष्ठा महो.
समयसार पद्यानुवाद/समयसार कलश पद्यानुवाद/
प्रवचनसार/योगसार पद्या./अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद
कुंदकुंदशतक पद्यानुवाद/शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद

पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल के प्रकाशन

सम्यग्दर्शन/हरिवंश कथा/शलाका पुरुष
जान रहा हूँ देख रहा हूँ/जम्बू से जम्बूस्वामी
सुखी होने का उपाय भाग १ से ८ तक
विदाई की बेला/जिन खोजा तिन पाईयां
ये तो सोचा ही नहीं/अहिंसा के पथ पर
सामान्य श्रावकाचार/षट्कारक अनुशीलन
सुखी जीवन/विचित्र महोत्सव/क्षत्रचूड़ामणि परि.
संस्कार/इन भावों का फल क्या होगा
यदि चूक गये तो/ऐसे क्या पाप किये
णमोकार महामंत्र/चलते-फिरते सिद्धों से गुरु
पर से कुछ भी संबंध नहीं/नींव का पत्थर

अन्य प्रकाशन

चौबीस तीर्थंकर महापुराण/बृहद जिनवाणी
जिनेन्द्र अर्चना/तीनलोकमंडल विधान
सिद्धचक्र विधान/मोक्षमार्ग की पूर्णता
इन्द्रध्वज विधान/धवलासार/द्रव्य संग्रह
रामकहानी/गुणस्थान विवेचन/रत्नत्रय विधान
निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व/जैनतत्त्व परिचय
कल्पद्रुम विधानरत्नत्रय विधान/नवलब्धि विधान
बीस तीर्थंकर विधान/पंचमेरु नंदीश्वर विधान
करणानुयोग परिचय/शीलवान सुदर्शन
आ. कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार
आध्यात्मिक भजन संग्रह/चौबीस तीर्थंकर पूजा
चौसठ ऋद्धि विधान/दशलक्षण विधान
पंचपरमेष्ठी विधान/विचार के पत्र विकार के नाम
जिनधर्म प्रवेशिका/व्रती श्रावक को ग्यारह प्रतिमाएँ

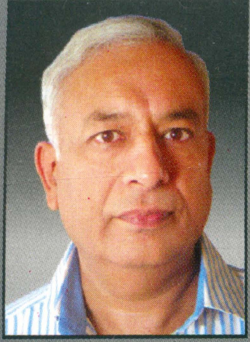

तार्किक शैली के आध्यात्मिक व्याख्याता परमात्मप्रकाश भारिल्ल को कठिनतम विषयवस्तु को अत्यन्त सरलतापूर्वक पाठकों एवं श्रोताओं को हृदयंगम करा देने में महारत हासिल है।

वे किसी भी विषय के उन पहलुओं को उजागर करते हैं, जिनकी ओर सामान्यतः किसी का ध्यान ही नहीं जाता।

प्राचीन दार्शनिक संदर्भों की आधुनिक शैली में तार्किक व्याख्या करके, उसे पाठकों व श्रोताओं से स्वीकृत करा लेना उनकी विशेषता है।

अपने रत्नव्यवसाय के सिलसिले में प्रतिवर्ष अनेकों विदेश यात्रायें करने के अलावा आप प्रवचनार्थ भी देश-विदेश की अनेकों यात्रायें करते रहते हैं।

आप अल्पवय से ही सामाजिक व धार्मिक अभियानों से जुड़े हुए हैं और वर्तमान में राष्ट्रीय स्तर के युवा संगठन अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन के राष्ट्रीय महामंत्री हैं। देश-विदेश में आध्यात्मिक क्रांति का बिगुल बजाने वाले पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर, पण्डित टोडरमल सर्वोदय ट्रस्ट जयपुर, तीर्थधाम मंगलायतन ट्रस्ट अलीगढ़, श्री महावीर स्वामी कुन्दकुन्द कहान दि. जैन मुमुक्षु मण्डल ट्रस्ट बोरिवली मुम्बई इत्यादि ट्रस्टों के आप ट्रस्टी एवं डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल चेरीटेबल ट्रस्ट के महामंत्री हैं।

प्रस्तुत कृति के पूर्व भी आपकी 'अन्तर्द्वन्द' नामक कृति प्रकाशित हो चुकी है, जिसमें आपने कथानक के माध्यम से आज के अभिशप्त जीवन में उठनेवाले अन्तर्द्वन्दों का सटीक चित्रण किया है। उक्त कृति की 2 संस्करण के रूप में 8 हजार प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

सम्पर्क : मुम्बई, मो. : 09870016988
E-mail : parmatmb@yahoo.com